नानेश वाणी क्रमांक-11

संस्कार-क्रान्ति

(भाग-1)

आचार्य श्री नानेश

प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.)

- नानेश वाणी -11
  संस्कार-क्रान्ति (भाग-1)

- आचार्य श्री नानेश

- प्रथम संस्करण : मार्च 2002, 1100 प्रतियां

- मूल्य : 30/-

- अर्थ सहयोगी : श्री घेवरचन्दजी फूलचन्दजी झामड़, नागपुर

- प्रकाशक :
  श्री अ.भा.साधुमार्गी जैन संघ,
  समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर

- मुद्रक :
  अमित कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स, बीकानेर
  दूरभाष : 547073

प्रकाशकीय

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युग पुरुष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियों में हैं जिन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखाई जिस पर चलकर भव्य आत्माएँ अपने कर्मो का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती हैं। यद्यपि आचार्य श्री जी के भौतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है तथापि उनके द्वारा चलाये गये विविध अभियानों में वह सदा ही प्रतिच्छायित होता रहेगा। इस प्रकार उनका वह व्यक्त रूप ही पर्यवसित होकर उस कृतित्व में समाहित हो गया है जो उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप में उपलब्ध है। एक क्रान्तिदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है जो सांसारिक प्राणियों के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। इस स्तम्भ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश रश्मियाँ युगों-युगों तक आलोक धारा प्रवाहित करती रहे, इसके लिए यह आवश्यकता है कि न तो उन साहित्य रश्मियों को क्षीण होने दिया जाये न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये वरन् आवश्यक यह भी है कि सर्व सामान्यजनों हित उनकी सुलभता सुनिश्चित रखी जाये। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को 'नानेश वाणी' पुस्तक शृंखला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का निर्णय किया।

इस सन्दर्भ में बैंगलोर निवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपाणी ने अर्थ संबंधी व्यवस्था में जो सद्प्रयत्न किया, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्रस्तुत कृति पूर्व में संस्कार-क्रान्ति नाम से प्रकाशित पुस्तक की नई आवृत्ति है। इसमें कुछ संशोधन परिस्करण भी हुआ है। इसके सम्पादक श्री शान्तिचन्द्र मेहता के अथक परिश्रम के साथ-साथ इस कृति के प्रकाशनार्थ अर्थ प्रदान करने वाले उदारमना सुश्रावक श्री घेवरचन्दजी फूलचन्दजी झामड़, नागपुर के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना भी अपना दायित्व समझता हूं।

यद्यपि सम्पादन-प्रकाशन में पूरी सावधानी रखी गई है तथापि कोई भूल रह गई हो तो सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे हमें अवगत करायें ताकि आगामी संस्करणों में भूल का परिमार्जन किया जा सके।

निवेदक

शान्तिलाल सांड

संयोजक

साहित्य प्रकाशन समिति

श्री अ.भा.सा. जैन संघ, समता भवन, बीकानेर

अर्थ सहयोगी परिचय

सुश्रावक श्री घेवरचन्दजी झामड़, नागपुर का जन्म सन् 1926 में महाराष्ट्र राज्यान्तर्गत यवतमाल जिले के खैरी ग्राम में माता सौ. बदाम बाई फूलचन्दजी झामड़ की रत्नकुक्षि से हुआ। आपका प्राथमिक शिक्षण हिंगणघाट एवं वर्धा नगर में हुआ। आपका विवाह हिंगणघाट निवासी सुश्रावक श्रीमान खुशालचन्दजी बेताला की सुपुत्री मोहिनी देवी से सन् 1945 में हुआ।

आपने खैरी ग्राम में किराणे का स्वतन्त्र व्यवसाय प्रारम्भ किया। तदनन्तर अपनी बुद्धि चातुर्य से कुछ करने की सतत् ललक रहने से आपने खैरी से वणी आकर व्यवसाय किया लेकिन स्थाई रूप से पुनः खैरी ग्राम में वस्त्र व्यवसाय प्रारम्भ किया। सन् 1964 में आचार्य प्रवर नानेश का खैरी ग्राम में पदार्पण हुआ। अस्वस्थता के कारण 21 दिन गुरुदेव का विराजना हुआ, यही वे क्षण थे, जिनमें आपमें धर्म के प्रति संस्कार जागृत हुए।

धर्म के प्रति लगन व श्रद्धा एवं सच्ची निष्ठा में लीन रहते हुए आपने कई तपस्याएं जैसे अठाई, ग्यारह, पन्द्रह, मासखमण एवं वर्षीतप भी सपत्नीक कर धर्म के इतिहास में एक सुनहरा पृष्ठ जोड़ा है।

आपने एवं आपके परिवार ने कर्त्तव्यनिष्ठा एवं लगन से सेवाभाविनी महासती श्री चन्द्रकान्ता जी म.सा. आदि ठाणा 9 के ऐतिहासिक चातुर्मास में पश्चिम नागपुर में धर्म की नींव मजूबत की है। आपकी प्रशस्त भावना, कर्त्तव्य परायणता तथा समाज के प्रति समर्पण इन सद्गुणों से आप तपस्वी रत्न, कर्त्तव्यनिष्ठ, धर्म परायण सुश्रावक रूप में समादृत हैं।

आपके ज्येष्ठ पुत्र डा. बुलाकीदास कान, नाक, गले के विशेषज्ञ रूप में मानव सेवा करते हैं। इनकी सेवाओं का संत-सतियों के लिए भी योगदान सराहनीय है। द्वितीय पुत्र श्री मानकचन्द झामड़ इतवारी, निकालस मंदिर, नागपुर में व्यवसाय रत हैं तथा शेष पुत्र क्रमशः शांतिलाल, कांतिलाल, चंपालाल, नंदकिशोर वस्त्र व्यवसाय में रत हैं।

आप सन् 1996-1997 में श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, नागपुर के सभापति रह चुके हैं। वर्तमान में आप श्री संघ के ट्रस्टी मंडल के ट्रस्टी के रूप में कार्यरत हैं तथा पश्चिम नागपुर श्वेताम्बर जैन समाज ने आपकी सेवाओं को दृष्टिगत रखकर आपको श्री संघ के संरक्षक का पद प्रदान किया है।

- उदय नागोरी, सदस्य-साहित्य प्रकाशन समिति

अनुक्रमणिका

महामंत्र नमस्कार जाप

卐 परमात्मा से भेंट करने का सीधा, सरल मार्ग प्रभु भजन है।

卐 नमस्कार महामंत्र सभी दुःख दुविधाओं को मिटाकर सुख सुविधाएं प्रदान करता है।

卐 नमस्कार महामंत्र के प्रति अविचल श्रद्धा रखने वाला नर से नारायण, जीव से शिव, भक्त से भगवान और आत्मा से परमात्मा बन जाता है।

卐 जाप से हृदय में अपूर्व शांति एवं सुख प्राप्त होता है।
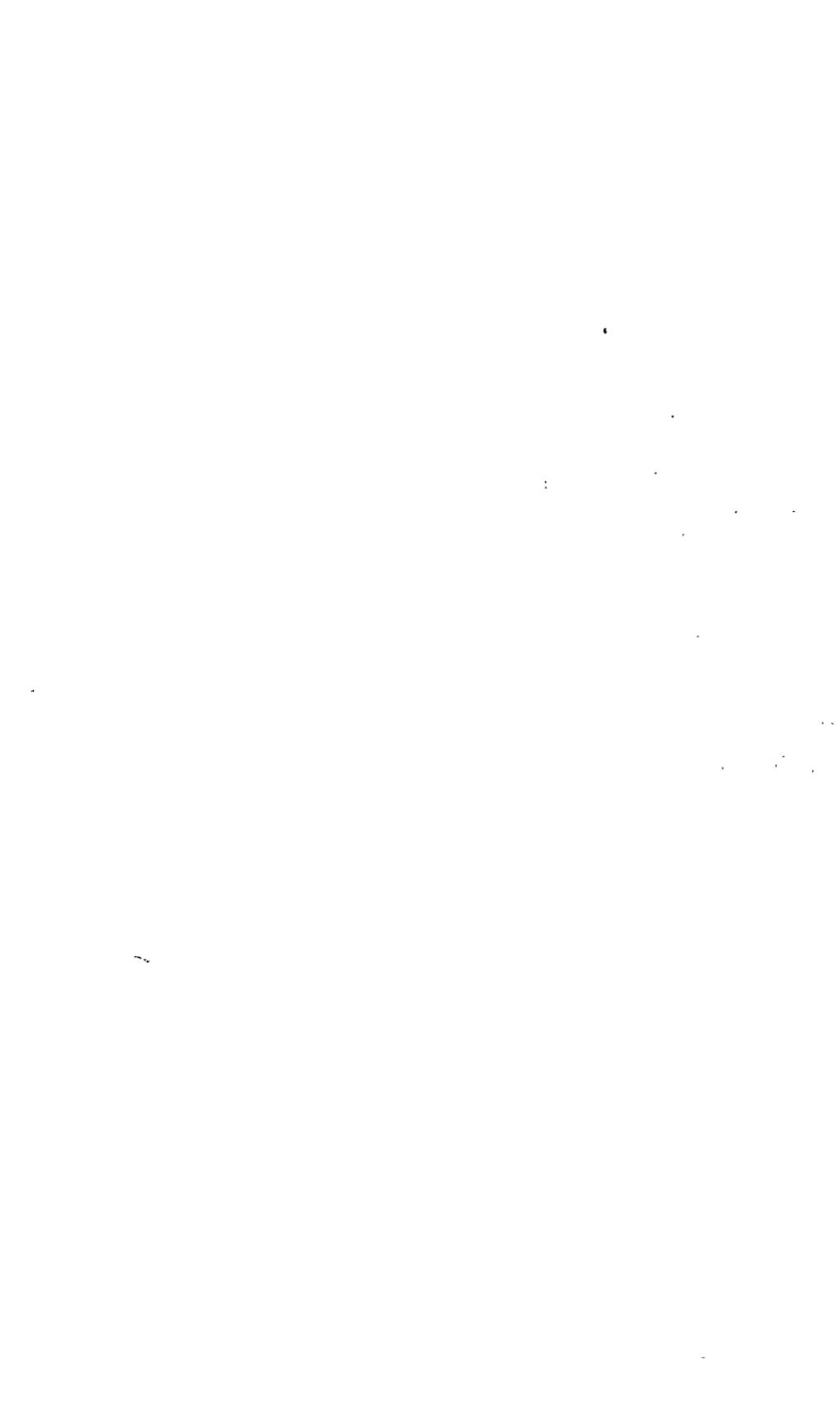
महामंत्र नमस्कार का जाप

णमो अरिहंताणं

णमो सिद्धाणं

णमो आयरियाणं

णमो उवज्झायाणं

णमो लोए सव्व साहूणं

एसो पंच णमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो,

मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलम्।

मंत्रों में नवकार मंत्र महामंत्र है और तंत्रों में महातंत्र– इसकी महिमा अपार है। भव्य आत्माएं अलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए इस महामंत्र का नित और निरंतर जाप करती हैं। यह महामंत्र आगमों के चौदह पूर्वो का सार है तो कल्पवृक्ष के समान मनोवांछित फलों का दातार है। मनुष्य ही नहीं, देवता–दानव सब जो भी विनम्रतापूर्वक इस महामंत्र का जाप करते हैं, वे संसार के भव–भ्रमण से मुक्त हो जाते हैं। इसके जाप में अतिशय आनन्द की सुखद अनुभूति होती है।

पहले पद पर नमस्कार किया जाता है अरिहन्त भगवान को, जिन्होंने अपने कर्म शत्रुओं पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त की है। दूसरा पद सिद्ध भगवान का है जो पंचम गति मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं। इस महामंत्र का तीसरा नमस्कार पद है आचार्य भगवान का, जो सागर के समान गम्भीर रहकर संघ शासन का भार सम्हालते हैं। चौथे पद पर नमस्कार है मुनिवर उपाध्याय को, जो शास्त्रों के महान् ज्ञाता होते हैं तथा सबको शास्त्रों का सार, अर्थ विचार एवं तप रूप

क्रिया विधि बताते हैं। पांचवां नमस्कार पद है सम्पूर्ण लोक में पंच महाव्रत पालने वाले, आस्रव टालने वाले, और परमार्थ में जीवन देने वाले तपस्वी, गुणधारी व विषय विकार के विजेता साधुओं का, जिन्हें त्रिविध से नमस्कार किया जाता है।

यह नमस्कार महामंत्र सभी प्रकार के पापों को नष्ट करने वाला है और सभी प्रकार के मंगलों में प्रथम मंगल है। संसार के जितने भी उपद्रव हैं, वे इसके जाप से दूर हो जाते हैं और सभी प्रकार के संकट तत्काल मिट जाते हैं। श्रीपाल हो या सेठ सुदर्शन या मदन रेखा– जिसने भी इस महामंत्र का अन्तःकरणपूर्वक जाप किया उसने अदभुत आनन्द का अनुभव किया–उसके जीवन के सूखे पतझड़ में फूलों भरा बसन्त खिल आया। यह महामंत्र ऐसा मंगलकारी है कि जैसे मन नन्दन–वन में रमण करता रहता है और सदा सर्वत्र विजयश्री का वरण करता है।

पद वन्दना साधु से सिद्ध तक

जो भव्य आत्मा राग को त्याग कर विराग की साधना में अग्रगामी बनती है, वह संसार की आत्माओं के लिए वन्दनीय बन जाती है, क्योंकि यह वही मुक्ति पथ होता है जो सबके लिए ग्राह्य एवं अनुकरणीय है। राग को जीतकर सम्पूर्ण कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की इस आत्म–विकार यात्रा में आगे बढ़ते रहना और परम गंतव्य तक पहुंच जाना ही आत्मा का चरम लक्ष्य माना गया है। इस चरम लक्ष्य की दिशा में गति प्रगति करना ही श्लाघ्य है और इसी कारण ऐसी भव्य आत्माओं की पद–वन्दना को सर्वोपरि महत्व दिया गया है।

नमस्कार महामंत्र के पांचों पद इस दृष्टि से एक पद में समाविष्ट हो जाते हैं और वह पद है साधु का –मुक्ति पथ पर अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ से गति प्रारम्भ कर देने वाले साधक। यही साधु अपनी साधना के विकासशील चरणों में उपाध्याय, आचार्य, अरिहंत और सिद्ध पद तक पहुंचकर अपनी आत्म–विकास यात्रा की सम्पन्नता समाहित करता है। इस महामंत्र में एक पद के क्रम में थोड़ा अन्तर रखा गया हैं। जो सकारण हैं। आत्म–विकास की परिपूर्णता में अरिहन्त पद पहिले प्राप्त होता है और सिद्ध पद अन्त में, किन्तु अरिहन्त का पहला तथा सिद्ध का दूसरा पद रखा गया है। नमस्कार की दृष्टि से वह इसलिए कि सिद्ध भगवान का स्वरूप–ज्ञान अरिहन्त भगवान् के मुख से ज्ञात होता है और वे ही सिद्ध एवं सिद्धि के प्रवक्ता होते हैं। अतः साभार

वन्दना पहले उनकी की जाती है। इस क्रम में गुण और गरिमा दोनों का समावेश किया गया है।

नमस्कार स्वयं एक उत्कृष्ट अनुष्ठान है क्योंकि यह अतिशय विनम्रता एवं अपूर्व श्रद्धा का संगम होता है और फिर ऐसा नमस्कार जब साधुत्व के सतत् विकासशील चरणों में किया जाता है तो उससे बढ़कर महत्व और किस सुकृत्य का हो सकता है ?

नमस्कार महामंत्र की गरिमा का यह पहलू अत्यन्त गौरवशाली है कि जहां अन्य सभी नमस्कारों में अधिकांशतः नाम–वन्दना होती है, किसी न किसी आराध्य नाम का गुण ग्राम किया जाता है किन्तु इस महामंत्र में नाम की नहीं, केवल गुणों की गरिमा गाई गई है। गुण ही वन्दनीय होता है, नाम तो उसका निमित्त भर होता है, फिर नाम के अहं को क्यों बढ़ावा दिया जाय ? प्रेरणा का मूल स्थल होता है गुणों का गौरव और वही इस महामंत्र का श्रृंगार है।

पांच पदों की गुण-गरिमा

विकास के क्रमानुसार गुण गरिमा के क्रम को भी हम नीचे से चलावें ताकि ऊंचाई के श्रेष्ठ गौरव को हृदयंगम कर सकें।

अतः "णमो लोए सव्व साहूणं" के पांचवें पद को पहले ले रहे हैं। अढ़ाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र रूप लोक में सर्व साधुजी महाराज सत्ताइस गुणों की जय विजय करते हुए विचरण करते हैं। साधु स्वरूप का जीवन्त चित्र अंकित हो जाता है उनके गुणों में, जो हैं– पंच महाव्रत का पालन, पांच इन्द्रियों पर विजय, चार कषायों का निवारण, भाव, क्रिया व योग से सत्यान्वेषण, क्षमावंत, वैराग्यवंत, मन, वचन एवं काया का समाधिकरण, ज्ञान, दर्शन व चारित्र सम्पन्नता, वेदना व मरण की समाहितता आदि। साधना के कर्मक्षेत्र में साधु पांच आचार पालते हैं, छः काया की रक्षा करते हैं, सात कुव्यसन व आठ मद छोड़ते हैं, नववाड़ सहित ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, दस प्रकार का यति धर्म धारते हैं, बारह भेदी तपस्या करते हैं, सत्रह भेद से संयम पालते हैं, अठारह पाप छोड़ते हैं, बाईस परिषह जीतते हैं, तीस महामोहनीय कर्म का निवारण करते हैं, तैंतीस आशातना व आहार के बयालीस दोष टालते हैं, लोच करते हैं, नंगे पैर चलते हैं, तथा मोह ममता रहित होकर काया क्लेश करते हैं। इस प्रकार साधु कठिन साधना के साथ समुन्नति की ऊंचाईयों पर ऊपर से ऊपर चढ़ते हुए चले जाते हैं।

साधु का ही ज्ञानोन्नति का स्वरूप होता है उपाध्याय का चौथा पद, जो ज्ञानालोक का प्रतीक होता है। उपाध्याय महाराज मिथ्यात्व रूपी अंधकार को मिटाते हैं तथा सम्यक्त्व रूपी प्रकाश को फैलाते हैं। ग्यारह अंग, बारह उपांग, चरणसत्तरी व करणसत्तरी रूप पच्चीस गुणों को ये धारण करते हैं और चौदह पूर्व के पाठक तथा बत्तीस सूत्रों के ज्ञाता होते हैं। वे आगमों के अलावा अनेक अन्य ग्रन्थों के जानकार, सात नय, निश्चय, व्यवहार, चार प्रमाण आदि स्वमत एवं अन्य मत के ऐसे ज्ञाता होते हैं कि उनके साथ वाद–विवाद में मनुष्य देवता या कोई भी उनको परास्त नहीं कर सकता है। उपाध्याय महाराज जिन या केवली नहीं होते, किन्तु उनके ज्ञान गांभीर्य के कारण उन्हें जिन और केवली के समान कहा जाता है।

तीसरे पद पर आचार्य भगवान संघपति होकर छत्तीस गुणों के धारक होते हैं। वे आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचना, मति, प्रयोगमति और संग्रहपरिज्ञा सम्पदाओं के स्वामी होते हैं। आचार्य महाराज न्यायपक्षी, भद्रिक परिणामी, परम पूज्य, कल्पनीय अचित वस्तु के ग्रहणहार, सचित्त के त्यागी, वैरागी, महागुणी, गुणों के अनुरागी और सौभाग्यशाली होते हैं।

सिद्ध भगवान तो आठों कर्मों को खपाकर मोक्ष पहुंचे हुए होते हैं जो पन्द्रह भेद से अनन्त सिद्ध होते हैं। सिद्ध स्थिति के स्रोत सीमित नहीं होते– तीर्थ से, अतीर्थ से, तीर्थंकर होकर, अतीर्थकर होकर, स्वयंबुद्ध प्रत्येकबुद्ध व बुद्धबोधित अवस्थाओं से, स्त्रीलिंग, पुरुषलिंग, नपुंसकलिंग, स्वलिंग, अन्यलिंग तथा गृहस्थलिंग से एवं एक व अनेक रूप से सिद्ध होते हैं। सिद्धावस्था में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, क्षायिक भाव एवं स्थिरता रूप चरित्र, अटल अवगाहना, अमूर्तिक, अगुरुलघु तथा अनन्त वीर्य की आठ गुण सम्पन्नता होती है। सिद्ध क्षेत्र ऐसा अपूर्व एवं अलौकिक होता है जहां जन्म नहीं, जरा नहीं, मरण नहीं, भय नहीं, रोग नहीं, शोक नहीं, दुःख नहीं, दायिद्रय नहीं, कर्म नहीं, काया नहीं, मोह नहीं, माया नहीं, चाकर नहीं, ठाकर नहीं, भूख नहीं, तृषा नहीं और सकल कार्य सिद्ध करके चौदह प्रकारे पन्द्रह भेदे अनन्त सिद्धात्माएं वहां ज्योति में ज्योति रूप विराजमान रहती हैं।

अरिहन्त भगवान एक हजार आठ लक्षण के धारणहार, चौंतीस अतिशय पैंतीस वाणी करके विराजमान, चौंसठ इन्द्रों के वन्दनीय, अठारह दोष रहित बारह गुण सहित, अणासवे अममे, अकिंचणे, छिन्नसोए, निरुवलेवे ववगय, पेमराग–दोस मोहे, निग्गंथस्स पावयणंदेसए, सत्थनायगे, अणंतणाणी, अणंतदंसी,

अणंत चरित्ते, अणंत वीरिय संजुत्ते। इन बारह गुणों से युक्त होकर वे अढ़ाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र रूप लोक में विचरण करते हैं।

वे पुरुषाकार पराक्रम के धारणहार तथा सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के जाननहार होते हैं। केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन के धारक होकर केवली कहाते हैं। अरिहन्तों में तीर्थंकर भी होते हैं और सामान्य केवली होते ही है। इस समय में महादेव क्षेत्र में बीस विहरमान (तीर्थंकर) विचरण करते हैं।

इस प्रकार पांचों पद अपनी असाधारण एवं अन्यतम गुणगरिमा से मांगलिक हैं, उत्तम हैं तथा इनके सदाकाल शरण की कामना की जाती है।

अविचल श्रद्धा और एकाग्र जाप

पांच पद रूप नमस्कार महामंत्र का जो अविचल श्रद्धा और एकाग्रता के साथ जाप करता है, वह अपनी आत्मा का परम कल्याण साध लेता है। इन पांच पदों को पंच परमेष्ठी का स्वरूप माना गया है कि ये पाचों परम ईष्ट हैं। इन पांचों का इस आत्मा को यदि शरण प्राप्त हो जाय तो इस आत्मा के उद्धार में कोई शंका नहीं रहेगी।

नमस्कार महामंत्र के प्रति अविचल श्रद्धा रखने वाला नर से नारायण जीव से शिव, भक्त से भगवान तथा आत्मा से परमात्मा बन जाता है। यही वास्तविक धारणा है क्योंकि इसके पीछे मनुष्य के सर्व–सामर्थ्य की भावना छिपी हुई है। मनुष्य प्रगति का मूल है तथा प्रगति की सर्वोच्च ऊंचाई तक पहुंच सकता है। एक अपेक्षा से इस धारणा का विशिष्ट महत्व यह है कि मनुष्य किसी की रचना नहीं है अथवा किसी भी अन्य शक्ति पर आश्रित नहीं है। वह अपने भाग्य का स्वयं नियन्ता है और अपने पुरुषार्थ से सर्वोच्च पद को प्राप्त कर सकता है। अपनी कर्मण्यता का विश्वास ही सबसे बड़ा सम्बल होता है। जो लोग यह मानते हैं कि स्वयं मनुष्य कुछ नहीं, वह तो ईश्वर की रचना है तथा उसी की इच्छा–अनिच्छा पर उसका कुछ भी करना धरना है, वे मनुष्य की मूल कर्मठता पर आघात करते हैं तथा उनके मन में निष्क्रियता की शिथिलता फैलाते हैं। किन्तु जो लोग इस मान्यता में दृढ़ विश्वास रखते और बताते हैं कि मनुष्य किसी की इच्छा अनिच्छा का दास नहीं अपनी आत्मोन्नति का स्वयं स्वामी है, वे ही मनुष्यात्मा में छिपी अनन्त शक्तियों के उदघाटन का आह्वान करते हैं। वे जानते हैं कि यही आत्मा अपना चरम विकास साधकर परमात्मा बनती है और तब उस परमात्मा का इस संसार की रचना या उसके संचालन से क्या, इस संसार के साथ ही किसी प्रकार का संबंध नहीं रहता।

अतः नर से नारायण, जीव से शिव, भक्त से भगवान और आत्मा से परमात्म बनने की धारणा ही सर्वथा समीचीन एवं सत्य है।

यह विकास अनूठा विकास है जो मनुष्य को अविचल श्रद्धा से अभिभूत बना देता है और उसके पुरुषार्थ को जगा देता है कि गुणमूलक नमस्कार मंत्र का अथक रूप से जाप करे और अपने आत्म-विकास मार्ग को निर्बाध एवं निष्कंटक बना ले।

महामंत्र का अर्थ-गांभीर्य

इस महामंत्र के गर्भ से वे उच्च सिद्धांत ध्वनित होते हैं जो मानवी शक्ति को प्रोत्साहित करते हैं तथा मनुष्य को ही सर्वोच्च प्रगति का मूल और केन्द्र मानते हैं। यही इस महामंत्र का अर्थ-गांभीर्य है जिसकी आन्तरिकता में प्रवेश करके मानव को चिन्तनशील बनना चाहिये।

ये दिव्य सिद्धांत मानव जीवन की भव्यता को दिव्यता की ओर ले जाते हैं, जिन्हें मोटे तौर पर इस प्रकार बता सकते हैं– (1) गुणों का महिमा ज्ञान हो, नाम नहीं, क्योंकि नाम के महिमा-गान से काल क्रम में कई विकार पैदा हो सकते हैं। (2) मनुष्य में ही सर्वोच्च आत्म-विकास साधने का सामर्थ्य रहा हुआ है। वह किसी भी शक्ति के हाथ का खिलौना नहीं है। (3) राग त्याग कर विराग से वीतरागता की साधना करने वाला साधक ही नमस्कार योग्य होता है। राग ही सांसारिक पतन का मूल है। (4) ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की सम्यक आराधना से ही आत्म-विकास के उच्चतम सोपान तक आरूढ़ हुआ जा सकता है। (5) सर्वश्रेष्ठ मंगल वही है, जो आत्मा से परमात्मा बनने की अभिलाषा है। इसी अभिलाषा का व्यक्तिकरण पांच पदों के नमस्कार में होता है।

महामंत्र की महिमा अपार

महामंत्र की महिमा अपार, काटे कर्म, करे भवपार। इस नमस्कार महामंत्र की महिमा का क्या पार कि वह नर को नारायण और आत्मा को परमात्मा ही बना देता है क्योंकि इसके एकल जाप से संकट ही नहीं टूटते, आत्मा के सारे कर्म बन्धन ही टूट जाते हैं।

इसी कारण कहा है कि भवसागर को पार कराने वाला नवकार महामंत्र सबसे बढ़कर है। इसमें ही चौदह पूर्वो का ज्ञान समाया हुआ है, अतः बारंबार इस महामंत्र का जाप करें। इस मंत्र से किसी व्यक्ति विशेष को अथवा किसी

मान्यता–विशेष के व्यक्तियों को नमस्कार नहीं किया गया है, बल्कि उन सब अतीत, वर्तमान और भविष्य की महान विभूतियों की गुण वन्दना की गई है, जो इस लोक में साधुत्व की साधना के कीर्तिमान स्थापित करते हैं तथा सभी भव्य आत्माओं के सच्चे उद्धार का मार्ग दिखाते हैं। ऐसा यह नमस्कार मंत्र महामंत्र है, सर्वोच्च प्रगति का बीज मंत्र है तथा आत्म साधना के शिखर का नाद-मंत्र है।

2

प्रभु की भजे सो प्रभुहि होई

मनुष्य का ज्ञान–विकास ही उसके जीवन के महा–विकास का मार्ग बना है। उसके जीवन में जब तक अज्ञान का अंधकार–फैला हुआ था, तब तक वह वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ रहकर अंधविश्वासों के जंगल में भटका करता था और जब तक अज्ञान का अंधकार जिस क्षेत्र या वर्ग में फैला हुआ रहता है अथवा रहेगा, वहां अंधविश्वासों का चलन भी बना रहेगा। अंधेरे में किसी की आंखें रस्सी को सांप के रूप में देखें तो देखने वाली आंखों का दोष कम और अंधेरे का ही दोष ज्यादा माना जायेगा। हां, वैसा देखने वाला इस दोष से तब तक मुक्त नहीं माना जायगा, जब तक कि वह उस अंधेरे को महसूस करके उससे बाहर निकलने तथा प्रकाश की सीमा में पैर रखने की चेष्टा नहीं करेगा।

अंधकार में भटकते हुए मनुष्य ने जहां भी किसी शक्ति का रूप देखा, बस उसे देवता मान लिया। इस प्रकार पानी, अग्नि, रोशनी, धन, ज्ञान आदि अनेकानेक पदार्थ और वृत्तियां उसके लिए देवी देवता बन गये। अंधकार में नहीं देख सका तो वह अपना ही शक्ति भंडार नहीं देख सका जो उसके पद को मान्य सभी देवी देवताओं से ऊंचा उठाते हैं और यदि वह अपनी शक्तियों का उद्घाटन कर ले तो उसे ईश्वर के समकक्ष बना देते हैं।

यह सब अज्ञान का अंधकार था, जो सर्वज्ञ भगवन्तों के आलोक दान से दूर होता गया है– होता जा रहा है तथा ज्ञान का प्रकाश फैलता जा रहा है, जिसमें मनुष्य की भव्य आत्मा अपने मूल स्वरूप को चीन्हती–पहचानती जा रही है और अपने सर्वोच्च विकास के सामर्थ्य के प्रति जागरूक बन रही है। वह इस सत्य को समझने लगी है कि मनुष्य तन और जीवन में वे अद्भुत

शक्तियां छिपी हुई पडी हैं जिनको जगाने की अपेक्षा है। यदि वह उनको जगा ले तो उसे अनुभव हो जायगा कि इस संसार में रही हुई कोई भी शक्ति उसकी अपनी शक्ति से ऊपर नहीं है। यह आत्मज्ञान अमूल्य है।

आत्मा की विकास-यात्रा

मनुष्य ने जब इस संसार के स्वरूप को समझा, अपनी आत्मा के स्वरूप को पहिचाना तथा सिद्ध भगवान का स्वरूप दर्शन किया तो उसे आध्यात्मिक ज्ञान लाम करने की अभिलाषा हुई और इस क्षेत्र में ज्यों-ज्यों प्रगति करने लगा, उसे अपनी आत्मा की विकास यात्रा का स्वरूप भी समझ में आने लगा। वह यह कि ज्ञान लाभ करते हुए क्रिया का आचरण करे तो यही आत्मा परमात्म स्वरूप का वरण कर सकती है।

यह परमात्म स्वरूप ही वह दर्पण होता है जिसमें अनेकानेक आत्माएं अपनी छबि का अवलोकन करती है, दर्पण की निर्मलता को आंकती है और इस अभिलाषा के साथ प्रयासरत होती हैं कि वे भी वैसी ही प्रतिबिम्बित होने वाली निर्मलता को प्राप्त करें। यह दर्पण को देखने की जो बात है, वही परमात्मा के स्वरूप दर्शन की बात है। परमात्मा का स्वरूप कैसे देखें और क्यों देखें ? परमात्मा के स्वरूप को क्यों देखें- यह इसलिये कि अपनी आत्मा को वे परमात्म स्वरूप तक जिन प्रयासों में पहुंचा सके हैं, उन्हीं प्रयासों को जानना, मानना और काम में लाना है क्योंकि यही अपनी इस आत्मा की भी विकास यात्रा का मार्ग है।

परमात्म का स्वरूप कैसे देखें- यह आत्मा की विकास यात्रा में प्रस्थान कर देना है। परमात्मा को देखेंगे तो उनका स्वरूप दिखाई देगा। और परमात्मा को देखने का साधन है उनके गुण मूलक स्वरूप को देखना, उनकी महिमा के महामंत्र का जाप करना तथा उनकी स्तुति, प्रार्थना व उनके भजनों में अपने मन को तल्लीन बनाना। यह दर्शन, जाप और भजन जितना एकाग्र होता जायगा, यों समझिये कि प्रभु का साक्षात्कार भी सन्निकट होता जायगा। इस साक्षात्कार की स्पष्टता का मापदण्ड होती है अपनी आत्मा की अपने स्वरूप के साथ एकात्मकता। यह एकात्मकता जितनी गहरी होती जायगी, आत्मा की विकास यात्रा भी अपने गंतव्य की तरफ तेजी से बढ़ती जायगी। आत्मा का स्वरूप ही तब परमात्मा के स्वरूप में मिलता घुलता और प्रतिबिम्बित होता हुआ प्रतीत होगा। इस प्रकार की प्रतीति ही मनुष्यात्मा को परमात्मस्वरूप के निकटतर करती जायगी।

प्रभु को भजने में तैरना क्या और डूबना क्या ?

प्रभु का भजन करने में डूब जाना अच्छा या तैरते रहना अच्छा–यह जरा समझने की बात है। प्रभु का दिव्य स्वरूप एक गंभीर सागर के समान होता है। उसमें ज्यों–ज्यों डूबते जाओ त्यों–त्यों नये–नये आंतरिक दृश्य दिखाई देते हैं, और नये–नये मोतियों की खोज सफल बनती है। डूबने का अर्थ होता है गहरे से गहरे जाना और अंतस्तल तक उतर जाना, जबकि तैरना मात्र अपनी पानी की सतह पर ही अपने दायित्व को बनाये रखना होता है तो और जगहों पर डूबने–तैरने का जो भी मतलब निकाला जाता हो, वह ठीक, लेकिन प्रभु को भजने में तो डूबना और डूबते हुए चले जाना ही श्रेयस्कर कहलायेगा। उस गहनता में ही प्रभु स्वरूप के साथ साक्षात्कार करने की सम्भावना बनती है।

एक भक्त कवि रहीम ने इस धार्मिक अवस्था का कितना सुन्दर चित्रण किया है कि प्रभु के भजन और स्वरूप दर्शन में 'जे अनबूड़े ते बूड़े' अर्थात् जो बिना डूबे हुए रह गये याने ऊपर ही ऊपर तैरते रहे, वे तो आत्म–विकास की दृष्टि में डूब गये और 'तरे, जे बूड़े सब अंग' अर्थात् वे भक्त जन अपने आत्म विकास के नजरिये से तैर जाते हैं जो प्रभु के भजन में केवल डूबते ही नहीं बल्कि अपने सकल अंग प्रत्यंगों को भीतर डुबो देते हैं याने कि अपनी समस्त वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों से उसी में एकाकार होकर लवलीन हो जाते हैं। है न, डूबने और तैरने की यह अलग ही परिभाषा, जो प्रभु को भजने के सम्बन्ध में ही लागू होती है ? जो डूबता है, वह तैरता है और जो तैरता है, वह डूबता है।

एकात्मकता का रसास्वादन

प्रभु के भजन में ज्यों–ज्यों गहराई से डूबते जाएंगे, अपनी आत्मा के स्वरूप में तथा परमात्मा के स्वरूप में एक प्रकार से एकरूपता दृष्टिगत होने लगेगी। यही एकरूपता की प्रतीति गहन चिन्तन को प्रोत्साहित करेगी। आत्मा स्वयं को ही संबोधित करते हुए कहेगी– अरे, कितने पुण्यों के प्रताप से तुझे यह मानव–देह मिली है, फिर भी भव भ्रमण को समाप्त कर देने की ओर तेरा लक्ष्य क्यों नहीं है ? तू अनुभव करती है कि जिन सुखों को तू प्राप्त करना चाहती है, वे सुख जब मिलते हैं तो लगता है कि सुख तो टल गये हैं और प्रतिक्षण ऐसे कटु अनुभव होते हैं कि जैसे रोज–रोज और बार–बार भाव–मृत्यु हो रही हो। धन और सत्ता अर्जित कर लेने के बाद भी क्या तुझे ऐसा अनुभव

होता है कि तूने कुछ अर्जित किया हैं ? परिवार और आत्मीय जनों की वृद्धि का क्या तुझे अपनी वृद्धि आभास देती है ? विचार कर कि सांसारिकता का बढ़ना मानव जीवन का नष्ट होना है क्योंकि इसमें निर्दोष सुख और निर्दोष आनन्द कभी भी मिलता नहीं है। यदि तूने अपनीं अमित शक्तियों के भंडार को जानना, देखना और खोलना है तो पर-पदार्थों के मोह को त्यागना होगा। तू सोच कि मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, मेरा यथार्थ स्वरूप क्या है, किनसे मुझे अपने संबंध तोड़ने हैं और किनसे अपने सम्बन्ध जोड़ने हैं ?

प्रभु का भजन करते समय तल्लीन बनी आत्मा का यह चिन्तन जितना गंभीर बनता जायगा, यह निश्चय मानिये कि उस समय अपने अन्तःकरण में जिस प्रकार की अनुभूतियां जन्म लेंगी, वे नई और निराली होंगी। घनीभूत और फलीभूत होती हुई ऐसी अनुभूतियां ही अपने आत्म स्वरूप के साथ नई ढल रही एकात्मकता के दिव्य रस का आस्वादन कराएंगी। 'किनसे सम्बन्ध तोड़ने' की मनोवृत्ति जिस रूप में सावधान होती जायगी, उतनी ही तीव्रता से 'किनके साथ संबंध जोड़ने' की स्पष्टता मुखरित होती हुई चली जायगी। इस स्वरूप एकात्मकता में ही पररूप तिरोहित हो जाने की अवस्था उत्पन्न होती है।

''प्रभु का होई'' अथवा ''प्रभु हि होई''

अभी भी जिनके ज्ञान का प्रकाश पूरे विस्तार तक नहीं फैल पाया है, वे प्रभु के स्वरूप को मनुष्यतात्मा द्वारा अप्राप्य मानते हैं, इसीलिये कहते हैं कि 'प्रभु को भजे सो प्रभु का होई' याने कि जो प्रभु का भजन करता है, वह प्रभु का अपना हो जाता है, किन्तु स्वयं प्रभु नहीं हो सकता है। इस रूप में वे भक्त और भगवान का संबंध ही स्वीकार करते हैं कि भक्त भक्त रहेगा और भगवान भगवान-भक्त का भगवान में रूपान्तरण शक्य नहीं।

प्रभु के भजन का अन्तर्ज्ञान बहुत गूढ़ और सारपूर्ण होता है। वह प्रभु के भजन में सारे अंगों से डूबे हुए भक्त को सदा भक्त ही बनाये नहीं रखता है। प्रभु के स्वरूप के साथ उस भक्त की एकात्मकता ज्यों-ज्यों घनी और अभेद्य होती जाती है, वह भक्त भगवान का रूप लेने लगता है और अपनी सम्पूर्णता के साथ एक दिन वह भगवान ही हो जाता है। अतः 'प्रभु का भजे सो प्रभु का होई' की बजाय यह क्यों नहीं कहा जाय कि 'प्रभु को भजे सो प्रभु ही होई ?

किन्तु प्रभु के भजन से प्रभु का स्वरूप पा लेना कोई हंसी खेल नहीं है। अपने स्वरूप को इतनी गहराई से परखना होता है और उसे इतनी

आत्मलीनता से विगलित कर देना होता है कि अपनेपन का ध्यान ही विस्मृत सा हो जाता है। जो पानी की सतह पर ही तैरता है, उसे अपनेपन का खयाल रहता है, लेकिन जो प्रभु के स्वरूप की गइराई में पूर्ण रूप से डूब जाता है तो वह खुद रहता ही कहां है ? वह तो उसी रंग से रंग जाता है– प्रभुमय हो जाता है। उस स्तर पर जाकर अन्तर की सारी रेखाएं मिट जाती हैं–और पहिचान की एकात्मकता निखर उठती है। वह अवस्था 'प्रभु हि होई' नहीं तो और क्या हो सकती है ? वस्तुतः ऐसी अवस्था को तर्क के दायरों में नहीं देख सकते हैं– वह तो अनुभूतिजन्य अवस्था होती है– "गूंगे का गुड़ गूंगे ही जाना"। प्रभु के भजन रूप अनुभूति की इस दिशा में आगे कदम बढ़ाने से ही इसके आस्वादन का अनुभव लिया जा सकता है।

प्रभु के भजन का सार है णवकार मंत्र

प्रभु के भजन करने या उनके स्वरूप की गइराई में डूबने का सर्वश्रेष्ठ एवं अतीव प्रभाविक माध्यम है णवकार मंत्र का जाप। जाप की अपनी एक विशेषता होती है। इस चंचल मन को वश में करने तथा वांछित दिशा में चलाने की दृष्टि से। आप में से कई लोग अपने अनुभव सुनाते हैं कि सामायिक लेकर बैठ जाते है और ध्यान भी लगा लेते हैं, तब भी मन वश में नहीं होता है–वह न जाने कहां का कहां भटकता रहता है ? और मन वांछित दिशा में एकाग्रता से आगे नहीं बढ़े तो समझिये कि उस दिशा में प्रगति सम्भव नहीं है। फिर प्रभु के स्वरूप में गइराई से डूबने की अभिलाषा हो लेकिन मन साथ में नहीं डूबता हो तो क्या किसी तरह डूबना सम्भव हो सकता है ?

इसलिये मन का साथ होना जरूरी है, क्योंकि मन के हारे हार है और मन के जीते ही जीत होती है। णवकार मंत्र का जाप वह अमोघ औषधि है जिससे मन अपनी दिशा ही नहीं बदल देगा बल्कि वांछित दिशा में तन्मयता से गति भी करने लगेगा। जाप में क्या होता है कि स्वरोच्चारण से सारा ध्यान उस तरफ ही केन्द्रित हो जाता है और उन्हीं स्वरों के पुनः पुनः आवर्तन से उनका गूढ़ार्थ अन्तःकरण में उतरता जाता है। तब 'णमो अरिहंताणं' का उच्चारण करते ही हृदय पटल पर अरिहंत प्रभु का गुणमूलक चित्र अंकित होता जाता है। प्रत्येक नमस्कार में उस पद के गुणों की झांकी दिल में खिंचती चली जाती है और खिंचता चला जाता है यह आत्म विश्वास कि इस महामंत्र के जाप में ही मंगलमयता की प्रथम और अन्तिम भावना समाई हुई है।

जाप की यह प्रक्रिया धीरे-धीरे ऐसी आन्तरिकता से ओतप्रोत होती चली जाती है कि मन खुद अपने को भूल जाता है और उस प्रक्रिया में डूब जाता है। मन ऐसा तत्त्व है जो इसमें रंगने लगता है तो फिर उसी में अपने को रंगता हुआ आगे से आगे गति करता रहता है और एक दिन ऐसा एकाकार हो जाता है कि 'काली कामरी, चढ़े न दूजो रंग।'

भेंट करें परमात्मा से और भेंट हो जावे

तब वैसा मन आपको परमात्मा से अवश्य ही भेंट करवा देता है। फिर आपके आत्म पराक्रम का काम रहता है कि आप परमात्मा से भेंट करके परमात्मा के भेंट ही हो जावें।

परमात्मा से भेंट करने का सीधा और सरल मार्ग है प्रभु का भजन और णवकार मंत्र का जाप, जो आपके मन को आपको सच्चा साथी और सहायक बना देता है। तब वह मन आपके शरीर तथा आपकी इन्द्रियों को भी आपके महद् कार्य से जोड़ देता है याने कि आपकी आत्मा स्वयं जीवन और साधना का संचालन सम्हाल लेती है तथा उसकी सारी शक्तियां उसी के अनुशासन में कार्य करती हैं। वैसी आत्म स्थिति में एकात्मकता के रस सागर में डूबना हकीकत में सरल ही नहीं, परम आनन्द दायक बन जाता है।

कल्पना करिये, बल्कि कभी-कभी कड़ाई से अभ्यास भी करिये कि जब-जब आपका मन आपकी आत्मा की आवाज के शासन में चलने लगता है, आपको कितने हल्केपन का अनुभव होता है ? इस अनुभव का स्वाद तब भी आपको चखने को मिल सकता है, जब आप किसी की भलाई का कोई अच्छा काम बिना किसी अपने स्वार्थ के मुक्त मन से करते हैं। हल्केपन का यही सुखद अनुभव बढ़ता जाता है, जब मन मुक्त, निःस्वार्थ और निश्छल हो तथा भीतर के आदेश को मानने के लिए तत्पर। उस मानसिकता में आप जो भी कार्य करते हैं, वह हल्केपन याने कि उत्थानगामिता का अनुभव देता है। जो जितना हल्का होता है, उसका उत्थान उतना ही शीघ्रगामी होता है। आत्मा भी कर्म भार से हल्की होती है तो वह ऊपर उठती है। प्रभु के भजन और णवकार महामंत्र के जाप से ऐसी ही उत्थानगामिता की पृष्ठभूमि तैयार होती है। ध्यान रखिये- इसी पृष्ठभूमि के ऊपर से प्रभु के स्वरूप में डूब जाने की अभिलाषा रखने वाली आत्मा ऊंची उड़ान भरती है।

शान्ति और सुख की अनुभूति

मनुष्य के मन में यह अदम्य इच्छा रहती है कि वह सर्व प्रकारेण सुखी ो और निरन्तर सुखी बना रहे– उसे दुख की लेशमात्र भी पीड़ा न हो। वह र्फ सुखी और सुखी ही रहना चाहता है तथा उस सुखपूर्ण स्थिति से ही शाति को जोड़ता है कि सुख है तो शांति है और सुख नहीं है तो शांति भी नहीं है।

अपनी इस अदम्य इच्छा के उपरान्त भी मनुष्य में एक बहुत बड़ी खामी बनी रहती है। वह शांत चित्त से यह नहीं सोचता अथवा सोचना नहीं चाहता कि उसके वर्तमान के दुःखों के कारण क्या हैं, उन कारणों को स्थायी रूप से वह कैसे दूर करे तथा किस प्रकार के उपाय करे कि वे कारण पुनः पुनः उत्पन्न न हों ? फिर यह सोचे तब उसके कदम आगे बढ़ सकते हैं कि वह अपने जीवन में किस प्रकार का ज्ञान ले, तथा कैसी क्रिया का आचरण करे जिससे उसे सुख ही सुख का अनुभव हो और शांति का रसास्वादन मिले ? सुख और शांति का उसका यह अनुभव स्थायी और अक्षुण्ण कैसे रहे, यह उसके चिन्तन का केन्द्र बिन्दु बनना चाहिए।

कई विचारवान मनुष्य इस समस्या पर सोचते भी हैं किन्तु कई बार उनके सोचने की दिशा सही नहीं होती है। उनका सोच केवल भौतिक पदार्थों तक ही सीमित रह जाता है। वे इतने प्रयास करने को ही कहते हैं कि इन पदार्थों का वितरण न्यायपूर्ण हो तथा सब लोगों की मूलभूत आवश्यकताएं पहले पूरी की जाय। उनका यह सोच अनुचित नहीं कहलाता, **किन्तु अनुचित होती है उसकी सीमा**। क्योंकि इस संसार में देखा यह जाता है कि भौतिक

पदार्थो की सन्तोषजनक उपलब्धि मात्र से ही लोगों को सुख नहीं मिल जाता है। इस दिशा में मनुष्य के अब तक के प्रयासों की समीक्षा की जाय तो पहला तथ्य यही उभर कर सामने आता है कि भौतिक पदार्थो के आवश्यकतानुसार वितरण की समस्या ही नहीं सुलझ पा रही है। जिन देशों ने सरकारी स्तर तक भी इस समस्या को सुलझाने के प्रयास किये और कुछ सफलता भी प्राप्त की, वहां पर भी बाद में स्थिति असन्तोषजनक बनती गई है। इस स्थिति से जो संकेत मिलता है उसे गहराई के साथ समझा जाना चाहिये।

मानव-मन का यह संकेत

मानव मन का यह संकेत क्या है ? इसे बारीकी से समझने तथा तदनुसार कार्य विधि अपनाने की जरूरत है।

मानव मन की मूल इच्छा होती है सदा सुख चाहने की। दूसरी इच्छा होती है समानता के व्यवहार की। यह इस तरह कि जैसे किसी भूखे व्यक्ति को खाने के लिए भोजन दिया गया और समझिये कि वैसे चार व्यक्ति थे, किन्तु चारों को जो भोजन दिया गया, वह बहुत फर्क वाला था। एक को सूखी रोटी दी गई तो दूसरे को घी लगी रोटी और सब्जी। तीसरे को कई प्रकार की खाद्य वस्तुएं खाने को दी गई तो चौथे को मिष्ठान आदि दिये गये। चारों साथ बैठे। भूख में कोई भी खाना चलेगा किन्तु चौथे के खाने को देखकर पहला, दूसरा, और तीसरा व्यक्ति तक दुःख का अनुभव लेगा। यह होता है परस्पर में विषमता बरतने का दुःख। समानता के व्यवहार को प्रत्येक मनुष्य पसन्द ही नहीं करता, बल्कि उसे अपना अधिकार भी मानता है। इसका आशय यह है कि सांसारिक पदार्थो का सुख मिले, लेकिन समानता के साथ।

कल्पना करें कि सांसारिक पदार्थो की उपलब्धि भी किन्हीं समानता के आधारों पर करा दी गई, तब भी क्या मात्र उससे ही मानव मन सुख का अनुभव कर लेगा ? बाहर के पदार्थो की प्राप्ति के बावजूद तब मन की विविध वृत्तियां संघर्षरत बनेंगी और उनकी टकराहट से पैदा होता रहेगा दुःख का ज्वार। तब फिर दुःखानुभव की विचित्र परिस्थितियां पैदा हो जायेंगी। जैसी भी संसार में प्रकृति की कार्य विधि है अथवा कि मनुष्य–कृत व्यवस्था इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि पदार्थो की सुलभता सदा एक समान ही बनी रहे। पदार्थो की न्यूनाधिक प्राप्ति की परिस्थितियां तो बनी ही रहती है। सारांश यह है कि मात्र सांसारिक पदार्थो की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति पर सुख और दुख का अनुभव निर्भर नहीं करता है।

तब आता है मन की विचारणा में एक नया मोड कि क्या बाहर की सुविधायें या दुविधायें ही उसके सुख और दुःख के अनुभव को प्रेरित करती हैं अथवा कोई अन्य ऐसा कारण है जो सुख और दुःख का मूल है तथा जो सारे बाहरी कारणों से अलग है ? इसी नये मोड़ से मन जागता है और इस बिन्दु पर ठहरता है कि सुख और दुःख का अनुभव तो केवल उसी के विचार और चिन्तन की सीमा में रहा हुआ है। बाहर दुःखमय परिस्थितियां हों तब भी वह अपने विचार से सुख का अनुभव कर सकता है। तथा इसी प्रकार बाहर की अतीव सुखमय परिस्थितियों में भी उसके दुःख का अनुभव अतीव कटु भी हो सकता है।

यही वह बिन्दु होता है जहां से मानव मन स्थायी सुख की कल्पना करता है और उन नये–नये क्षेत्रों की खोज करता है, जहां उसे ऐसा सुख और ऐसी शान्ति मिल सके।

यही आध्यात्मिक क्षेत्र का बिन्दु होता है।

मनुष्य का मन इसी बिन्दु से आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करता है। तब वह हर समय संसार को अपने सामने रखने की बजाय अपनी आत्मा को समक्ष रखने का अभ्यास बनाता है। इस रूप में ज्ञान और क्रिया के समस्त क्षेत्र का दिशा–परिवर्तन हो जाता है।

मन जब तक सिर्फ संसार को ही अपने सामने रखता है, तब तक उसका सारा ध्यान इस संसार के भौतिक पदार्थो पर ही केन्द्रित रहता है। उसकी नजर शरीर और इन्द्रियों पर रहती है कि इन्हें किन पदार्थो की आवश्यकता है तथा उनको उन पदार्थो की पूर्ति कैसे की जाय ? शरीर को क्या सुख सुविधायें चाहिये और वे अधिक से अधिक उसको कैसे सुलभ करावे ? कान को क्या सुनना पसन्द है, आंख को क्या देखना, नाक को क्या सूंघना, मुंह को क्या चखना और स्पर्श को क्या महसूस करना पसन्द है–वही सारी सामग्री इन्हें मिले। आप समझते हैं कि इच्छाओं का कहीं अन्त नहीं होता और सामान्य रूप से इच्छित सारी सामग्री भी सभी को मिल जाय ऐसी भी परिस्थितियां नहीं बनती हैं।

तब एक टकराव पैदा होता है मन के भीतर ही भीतर और असन्तोष की आग भड़कती है। यदि उस आग में मन जलने लगता है तो वह अनैतिकता की तरफ़ मुड़ता है, हिंसा की ओर झुकता है और येनकेन प्रकारेण पदार्थो के लिये अपनी सारी अच्छाइयों को ज्वालाओं में झोंक देता है। आज

का मानव मन शायद कुछ ऐसी ही हरकत कर रहा है।

किन्तु मन यदि उस आग में तपकर खरा सोना बनता है कि वह अपना संशोधन और परिमार्जन कर लेता है तथा पूर्ण रूप से आत्माभिमुखी बन जाता है। तब उसके सुख और दुःख के सारे अनुभव आत्मानुभूति के परिप्रेक्ष्य में ढलने लग जाते हैं। आत्मा के अन्तरतम में किस कृत्य से सुख मिलता है और किस कृत्य में दुःख इसकी सही प्रतीति मन को होने लग जाती है। तब वह शरीर और इन्द्रियों के कार्यों की दिशा को भी पलट देता है और उनकी क्रियाशीलता को आत्मा के साथ जोड़ देता है। फिर वह जो संयोग बनता है, उसी के परम पुरुषार्थ से आध्यात्मिक क्षेत्र में जीवन की गति होती है तथा आन्तरिक सुखानुभति के मधुर क्षण उभरते हैं। इन्हीं क्षणों में जन्म लेती है सच्चे सुख और स्थायी शान्ति को प्राप्त करने की अटल अभिलाषा एवं साधना के पथ पर तेजी से चलने की संकल्पवृत्ति।

नमस्कार महामंत्र के जाप का सुपरिणाम

इस संकल्पबद्ध मानसिकता में यदि नमस्कार महामंत्र के नित व निरन्तर जाप का क्रम आरम्भ किया जाय तो समग्र जीवन का सम्यक् रूपान्तरण होने लगता है। इस महामंत्र के जाप का सुपरिणाम यह प्रकट होता है कि सांसारिकता और उसके जड़ पदार्थो पर से दृष्टि पूरी तरह हट जाती है तथा निजात्मा और समान अनुभूति के साथ संसार की सभी आत्माओं की सुख–सुविधाओं पर वह केन्द्रित हो जाती है क्योंकि उसका कोण बदल जाता है।

नमस्कार महामंत्र सभी की सभी दुख–दुविधाओं को मिटाकर सुख–सुविधाएं प्रदान करता है। इसके जाप से हृदय में अपूर्व शान्ति एवं असाधारण सुख प्राप्त होता है।

आत्माभिमुखी दृष्टि नमस्कार महामंत्र के पांचों पदों के आध्यात्मिक गुणों में रमण करने लगती है और चिन्तन करती है कि वह भी उन गुणों की ओर देखे तथा उनकी उपलब्धि के लिये समस्त पराक्रम को जुटावे। ऐसी दृष्टि ज्ञानमयी बनती है और तदनन्तर क्रियामयी। वह दृष्टि आत्मा और शरीर के भेद को समझने लगती है और दोनों की सुख–सुविधाओं के भेद को भी। यह अनुभव लेती है कि आत्मा है और वह नित्य है। आत्मा ही अपने कर्म की कर्त्ता और भोक्ता है। आत्मा का परम धर्म तथा चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। आत्मा को शरीर की प्राप्ति मात्र संयोग है किन्तु दोनो का अस्तित्व एकदम

पृथक है। यह पृथकत्व म्यान में ही हुई तलवार के समान है।

जो इस दृष्टि का दृष्टा होता है, वह आत्मा और शरीर के इस रूप को जानता है व अनुभव करता है। प्रत्येक इन्द्रिय को अपने-अपने, विषय का ज्ञान होता है लेकिन आत्मा को सभी इन्द्रियों का तथा शरीर का ज्ञान होता है। यह चैतन्य बोध होता है कि आत्मा का स्वरूप शरीर के अनुसार नहीं होता। एक कमजोर शरीर में कुशाग्र बुद्धि, जागृत विवेक तथा कठोर आत्मविश्वास के दर्शन होते हैं तो एक मोटे शरीर वाला अल्प व मन्द बुद्धि युक्त और डरपोक दिखाई देता है। इसलिए जड़-चेतन का भेद भी तब स्पष्ट हो जाता है। ज्ञान का यह प्रकाश फैल जाता है कि आत्मा स्वयं तो अविनाशी है, बाहर से जो उसका जीवन रूप में विनाश दिखाई देता है, वह देह का विनाश होता है। तब संसार की क्षणिकता एवं सांसारिक सुखों की नश्वरता का भी उसे भान होता है। इसके साथ ही यह ध्यान जागता है कि आत्मा की सुख सुविधाओं का स्वरूप देह की सुख-सुविधाओं के स्वरूप से कतई भिन्न है तथा आत्म शक्ति का नियोजन मात्र आत्मा की सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने में ही किया जाना चाहिये। उसी से अपूर्व सुख तथा असाधारण शान्ति की अनुभूति हो सकेगी। यह मनःस्थिति नमस्कार महामंत्र के जाप करते रहने से सुदृढ़ हो जाती है।

भावना की उत्कृष्ट श्रेणियों का विकास

नमस्कार महामंत्र के जाप के सुपरिणाम तब मन की भावनाओं में फलते-फूलते हैं। फिर भावना की उत्कृष्ट श्रेणियों का विकास होने लगता है। यह विकास की स्थिति और सच्चे सुख-शान्ति की अनुभूति तब आपस में होड़ लेने लगती हैं। विकास की स्थिति समुन्नत होती जाती है, त्यों-त्यों सुख-शांति की अनुभूति भी परिपक्व बनती जाती है। अपनी उत्कृष्ट श्रेणियों में रमण करती हुई भावना जितना स्थायित्व पाती है, उतना ही स्थायित्व मिलता जाता है सुख और शान्ति की अनुभूति को। तब उसका रसास्वादन भी परम आनन्ददायक होता जाता है। यह परम आनन्द ही अन्ततोगत्वा आत्मा को चरम आनन्द धाम तक पहुंचाता है।

कोई पूछे कि इस सारी आध्यात्मिक रूपान्तर की प्रक्रिया तथा चरम आनन्द धाम की प्राप्ति में कितना समय लगता है तो बताइये कि आप क्या

उत्तर देंगे ? क्या इसका कोई निश्चित उत्तर है ? आपको कोई पूछे कि आप एक लाख रुपया कितने समय में कमा लोगे तो क्या आप इसका कोई निश्चित उत्तर दे सकते हैं ? आप यही कहेंगे कि यह कमाने वाले की अपनी ताकत पर निर्भर करता है। कोई एक झपट्टा मारे कि लाख रुपये खींच ले और कोई सारी उम्र खप जाय तब भी लाख रुपये न मिलें। पैसा कमाने में तो भाग्य का सहारा मिल सकता है लेकिन आध्यात्मिक ऊंचाइयों को पाने में मात्र आत्म–पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है जो सफल बन जाय तो पलों में चरम लक्ष्य मिल जाय और जो अधूरा बना रहे तो उसमें कई जन्म जन्मान्तर लग जाएं। आप कपिल केवली के चरम आत्म–विकास की कथा जानते हैं। कपिल सीधा–सादा गरीब ब्राह्मण था। आपना कोरा निर्वाह भी नहीं चला पाता था। उस नगर का राजा प्रति दिन उस ब्राह्मण को एक सोने की मोहर दान में देता था जो उसे प्रथम दर्शन देता था। कपिल ने सोचा कि ऐसा प्रथम दर्शन राजा को वह भी दे दे तो प्राप्त सोने की मोहर से वह एक अर्से तक अपना निर्वाह चला लेगा। इस उत्कंठा से वह आधी रात को ही उठ बैठा और राजमहल की तरफ चल पड़ा कि प्रथम दर्शन से वह चूक न जाय। चोर समझकर सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया और सुबह राजा के सामने प्रस्तुत कर दिया। कपिल ने सही–सही बात बता दी तो राजा का दिल पिघल गया। उसे मनवांछित वस्तु मांगने की आज्ञा दे दी गई।

कपिल के अन्तःकरण में बनती, बदलती हुई भावनाओं ने जब नया रूप लिया तो वे उत्कृष्ट श्रेणी में पहुंच गईं। वह एक सोने की मोहर की मांग से पूरे राज को मांग लेने की भावना तक पहुंचा तो वह मन ही मन अपने को धिक्कार उठा। उसी धिक्कार से पैदा हुआ उसकी आत्मा का पूर्ण रूपान्तरण– जो पलों में पूरा हो गया और उसे केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई। उसकी आत्मा अपूर्व शान्ति एवं असाधारण सुख से विभूषित बन गई।

शान्ति और सुख की अनुभूति की साधना

अपूर्व शान्ति और असाधारण सुख की अनुभूति आत्म–साधना पर ही प्रतिफलित होती है और साधना प्रतिफलित होती है भावना की उत्कृष्ट श्रेणियों मे पहुंच जाने पर। मूल में भावना का आध्यात्मिक विकास महत्त्वपूर्ण

होता है। यह विकास सम्यक ज्ञान, दर्शन और चरित्र की आराधना तथा उसकी उत्कृष्ट परिणति पर निर्भर करता है। अतः शान्ति और सुख की सच्ची अनुभूति के लिए साधना के क्रम को आरम्भ कीजिये।

★

भाषा विवेक

卐 मनुष्य की महत्ता और हीनता, शिष्टता और अशिष्टता वाणी में तत्काल झलक जाती है। अतएव संस्कारी पुरुषों को बोलते समय भाषा विवेक रखना चाहिए।

卐 वचन--बाण तलवार से अधिक तीखे होते हैं। वे तलवार से भी ज्यादा गहरा घाव करते हैं। अतः सोच करके ही बोलना चाहिए।

卐 दूसरों के मुंह से गाली सुनकर अपना हृदय कलुषित मत होने दो। वह भीतर भरी हुई अपनी गन्दगी बाहर निकालता है तो क्या इसका मतलब यह है कि तुम उसे भीतर डाल लो ? अर्थात् गाली बोलकर अपने हृदय में गंदगी न करो।

1

सत्य भाषा - विवेक की सम्पूर्णता

"तं सच्चं खु भगवं"– अर्थात् सत्य ही भगवान है– यह सर्वज्ञ–प्रणीत शास्त्रों का शुभ वचन है।

भगवान आराध्य होते हैं तो सत्य से बढ़कर जीवन का दूसरा कौन–सा आराध्य हो सकता है ? जो अपनी जीवन नौका की डोर को सत्य के हाथों में थमा देता है, उसकी नौका इस संसार रूपी समुद्र के किसी भी अंधड़ या तूफान में न टकराती है और न टूटती–फूटती है, वह कहीं भी क्षतिग्रस्त नहीं होती। क्योंकि उसका खिवैया सत्य होता है।

सत्य, ज्ञान भी होता है तो सत्य आचरण भी होता है। सत्य जीवन का साध्य होता है। जीवन में जब पूर्ण सत्य का साक्षात्कार हो जाता है तो समझिये कि भगवान का अर्थात् अपनी ही आत्मा के पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार हो गया है। सत्य की उपासना ज्ञान के छोटे–छोटे कणों में आचरण के छोटे–छोटे क्षणों में भी करनी होती है। मन में प्रत्येक क्षण सत्य को सहेजना पड़ता है तथा स्थान–स्थान पर दिखाई देने वाले सत्य को समेटना होता है।

सत्य खंड–खंड मिलता है और उन खंडों को जोड़कर उसकी पूर्णता के दर्शन करने होते हैं। अनेकान्तवाद या स्याद्वाद की यही सीख है। आठ अंधों ने हाथी देखा अपने हाथों के स्पर्श से। जिसके हाथ हाथी का जो अंग लगा, उसने पूरे हाथी को वैसा ही बता दिया। जिसने पैर पकडा, उसने हाथी को खंभे जैसा बताया। जिसने उसकी पीठ पर हाथ फेरा, वह हाथी को दीवार जैसा बताने लगा। सब अपनी ही बात पर जोर देने लगे तो सब झूठे थे। एक आंखों वाले व्यक्ति ने असली बात उन्हें समझा दी तो सभी अंधो ने अपनी सारी बातों को जोडकर हाथी का सत्य स्वरूप खडा कर दिया।

दुनिया की दुविधा यह रहती है कि यहां पर अधिकांशतः खंड–सत्य को ही पूर्ण सत्य घोषित कर दिया जाता है– उन अंधों की तरह और इस तरह सभी स्वयं को ही पूर्ण सत्य का धारक बताते हैं व दूसरे सबको झूठा बताकर झगड़े करते रहते हैं। इस तरह जिन के पास खंड–सत्य होता है, हठाग्रह के कारण वह भी असत्य बना रहता है।

भाषा विवेक को जांचते–परखते समय सत्य के इसी सत्य को आत्मसात करने की आवश्यकता है।

विवेक मन, वचन और काया का

विवेक सत्य की ओर पग बढ़ाने का प्रथम दृष्टि–सम्पात होता है। इस कारण विवेक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता बन जाता है। विवेक ज्ञानार्जन में होना चाहिये तो आचरण के प्रत्येक पहलू में। विवेक कहां नहीं होना चाहिये ? सच तो यह है कि छोटी से छोटी क्रिया में भी विवेक की अनिवार्यता होती है। जीवन के प्रत्येक क्षण में जब विवेक की जागृति रहती है तो समझिये कि सत्य की जागृति रहती है और सत्य का अन्वेषण रहता है।

जीवन की समस्त क्रियाओं के तीन मुख्य द्वार हैं मन, वचन और काया के द्वार। किसी भी विचार का उद्गमस्थान होता है मनुष्य का मन। इतने विचार उठते हैं मन में कि जिनका हिसाब रखना भी मुश्किल। उठने वाले विचारों का अल्पांश ही वचन द्वारा प्रकट होता होगा। इस कारण विचार विवेक की पहली आवश्यकता होती है। उठते हुए विचारों के तूफान में किन विचारों को उठते ही दबा देना, किन विचारों का शमन करना, अथवा किन विचारों को नये उठाना और उन्हें समीक्षा या विश्लेषण द्वारा पनपाना, यह सब विवेक मन को होना चाहिये। विवेक की दृष्टि सदा सत्योन्मुखी होती है। अतः वही दृष्टि कांट–छांट करके विचारों का सही वर्गीकरण कर सकती है। विवेक कहता है कि इसी वर्गीकरण के अनुसार अनावश्यक या कि अहितकारी विचारों का दमन करना होता है तो हितकारी विचारों का इच्छापूर्वक या प्रयासपूर्वक उद्‌भव भी कराना होता है। मन को स्व–विवेक से यह भी निर्धारित करना होता है कि किस विचार को वचन द्वारा प्रकट किया जाय और किस विचार को वचन द्वारा प्रकट नहीं किया जाय।

इस दृष्टि से वचन–विवेक का महत्त्व बहुत बढ जाता है। वचन–विवेक और भाषा–विवेक एक ही बात है। मन के विचारों को प्रकट करने का माध्यम होता है वचन और वचन की वाहिका होती है कोई भी भाषा अतः भाषा–विवेक

को बोली का विवेक भी कह सकते हैं।

वचन–विवेक से ही काया का विवेक बंधता और ढलता है। मनुष्य के मन में विचारों का कैसा–कैसा प्रवाह चलता है, यह दूसरा कोई नहीं जानता (ज्ञानी पुरुषों के सिवाय)। किन्तु जो कुछ जिह्वा के माध्यम से बोला जाता है, वह सबकी जानकारी में पहुंच सकता है। इसी कारण अपने वचन का कार्य में निर्वाह मनुष्य का कर्त्तव्य माना जाता है। बोलने और करने में जितना फर्क होता है, वह लोकनिन्दा का विषय बनता है। तभी तो कहा जाता है कि कथनी और करनी एक–सी होनी चाहिए।

भाषा से मानवता की पहिचान

भाषा ही वह माध्यम है जिससे मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति का ज्ञान होता है, उसके चारित्र का परिचय मिलता है तथा उसके मानवीय मूल्यों की पहिचान स्पष्ट होती है। मन एक अंधा कुआ होता है तो जिह्वा उसकी खिड़की बनती है, जिससे मन की गति की झलक मिलती है।

मनुष्य की महत्ता और हीनता, शिष्टता और अशिष्टता वाणी में तत्काल झलक जाती है, अतएव संस्कारी पुरुषों को बोलते समय भाषा विवेक रखना चाहिये।

यह सत्य है कि मनुष्य का हृदय भाषा में उजागर होता है। अगर उसके हृदय में विचारों का विवेक होता है और उसकी धारणा आत्मीय समानता में होती है तो वह बोलते समय प्रत्येक छोटे–बड़े या ऊंचे–नीचे इन्सान के साथ शिष्टता बरतता है, आदरपूर्णक व्यवहार करता है। इसके विपरीत यदि किसी व्यक्ति की भाषा में अशिष्टता और हीनता का भाव झलकता है तो यही माना जायेगा कि वह ओछे और हल्के संस्कारों वाला है। कोई आदमी चुप बैठा रहे तो उसका परिचय पाना कुछ कठिन होता है, लेकिन बोलने वाले आदमी का पांच मिनट के संभाषण से ही काफी परिचय मिल जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी भी व्यक्ति की अच्छाई या बुराई की पहिचान उसकी बोली से बढ़कर और कोई दूसरी चीज नहीं करा सकती है। वचन, वाणी, भाषा या बोली का ऐसा महत्त्व और प्रभाव होता है।

भाषा का जितना अधिक महत्त्व होता है, विचारणीय है कि उसका विवेक भी उतना ही अधिक प्रखर होना चाहिए। एक–एक बात और बोल का ध्यान होना चाहिये कि उसके बोलने से उसके जीवन की कैसी झलक दूसरे

को मिल रही है तथा दूसरे पर उस बोलने का कैसा प्रभाव गिर रहा है। जो अपनी भाषा का श्रेष्ठ प्रभाव बनाना चाहता है या कि स्थापित श्रेष्ठ प्रभाव को बनाये रखना चाहता है, उसे भाषा–विवेक के प्रति प्रतिपल सावधान रहना चाहिये, क्योंकि भाषा से उसकी मानवता, मानवीय मूल्यों एवं मानवीय संवेदनाओं की पहिचान होगी।

भाषा-विवेक संस्कारों की तुला पर

किसमें कितना और कैसा भाषा–विवेक है, यह संस्कारों की तुला पर ही तुलता है। यह भाषा–विवेक न सिर्फ मन की विचारधाराओं का प्रतिबिम्ब होता है बल्कि व्यक्ति के आचरण, उसके वंश, कुल की प्रतिष्ठा, उसके समाज की सभ्यता तथा उसके राष्ट्र की संस्कृति का भी परिचायक होता है।

समझते हैं आप कि आपके एक–एक बोल का कितना मोल है ? उससे एक बात का ही नहीं, हजारों बातों का अनुमान लगा लिया जाता है। आपके धार्मिक और आध्यात्मिक आचरण की कितनी विशेषताएं फलीभूत हुई हैं, यह भी आपके भाषा–प्रयोग से ही स्पष्ट होता है। कितना विशाल होता है एक व्यक्ति के भाषा–प्रयोग का महत्त्व कि जिससे उसके अपने संस्कार ही नहीं, उसके कुल, समाज तथा राष्ट्र तक के संस्कार नापे जाते हैं। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि एक व्यक्ति के लिये भाषा–प्रयोग के विवेक की कितनी महती आवश्यकता होती है ! इसी से यह भी स्पष्ट है कि भाषा शुद्धि के लिये श्रेष्ठ संस्कारों की भी कितनी आवश्यकता है।

आज सामान्य रूप से सभी क्षेत्रों में तथा विशेष रूप से राजनीति के क्षेत्र में भाषा–विवेक का कितना अभाव होता जा रहा है ? भाषा–विवेक का इतना ही अभिप्राय नहीं है कि भाषा मधुर, प्रियकारी व सम्मानजनक हो, किन्तु भाषा सार्थक भी होनी चाहिये। आप जो कुछ बोलते हैं, वैसा करते भी हैं–यह जरूरी है। भाषा–विवेक कथनी और करनी की एकरूपता का परिचायक भी होना चाहिये। किन्तु आज इसी भाषा–विवेक का लोप–सा दिखाई देता है। कोई भी कुशल राजनेता बोलता बहुत मीठा है, भले–भले आश्वासन भी देता है, किन्तु उसकी वह कथनी जब करनी में नहीं उतरती है तो निन्दा का पात्र बनता है उसका भाषा–विवेक ही तो। अतः संस्कारों के निर्माण में भाषा–विवेक को पूरा–पूरा महत्त्व देना चाहिये।

सत्यंवद, प्रियंवद

भारतीय संस्कृति का यह आदर्श वाक्य है कि 'सत्यंब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' अर्थात् सत्य बोलो, प्रियकारी बोलो। सत्य बोलो—यह आधारगत सिद्धान्त है। सत्य क्या है ? जो आप देखते, सुनते और महसूस करते हो उसे उसी रूप में व्यक्त करो, उसमें दुराव व छिपाव की कोई जगह नहीं होनी चाहिए। यथावत् का व्यक्तिकरण सत्य का पीठबल होता है। सत्य ही ऐसी शक्ति है जो जीवन के विचार और आचार को सदा एकरूप बनाये रखती है। पतन के जितने भी कारण होते हैं वे विचार और आचार के विभेद से ही पैदा होते हैं। जब तक विचार और आचार में साम्य रहता है तब तक उस व्यक्ति की प्रतिष्ठा और विश्वसनीयता बराबर बनी रहती है। यह सत्य का ही प्रभाव होता है।

विचार और आचार की समानता बनती है भाषा के साम्य से। भाषा बीच की कड़ी होती है जो दोनों को सन्तुलित बनाये रखती है। भाषा का सत्याश्रय इसीलिये विचार और आचार में सत्य का संचार रखने की क्षमता रखता है। भाषा सदा सत्य से मंडित हो, यह विवेक सदा जागृत रहना चाहिये। सत्य बोलो का यही सार है। किन्तु सत्य बड़ा पैना होता है और उसकी मार सभी सहन नहीं कर सकते हैं– इस कारण नीतिकारों ने आगे जोड़ा कि सत्य भी प्रियकारी बोलो। दूसरों के चित्त पर आघात लगावे ऐसा सत्य भी मत बोलो याने कि उस सत्य को इस तरह मिठास में घोलकर बोलो कि उसका बाह्यरूप प्रियकारी बन जाय। नंगा सत्य सामान्य रूप से असत्य होता है।

सत्य प्रियकारी हो—यह सामान्य नियम है किन्तु कभी—कभी ऐसे अवसर आते हैं जब किसी की हितकामना से उसका ठोस सत्य से आमना—सामना करना ही होता है ठीक उसी तरह जैसे एक सर्जन डाक्टर फोड़े की चीर—फाड़ इसलिये करता है कि शरीर का वह भाग तन्दुरुस्त हो जाय। इस दृष्टि से उपरोक्त वाक्य में परिवर्धन किया जा सकता है कि सत्य बोलो, प्रियकारी या हितकारी बोलो। सत्य प्रिय हो और हितसाधक भी हो, लेकिन प्रियकारिता और हितकारिता में टकराव पैदा हो जाय तो वहां पर हितकारिता को प्रमुखता देना समीचीन रहेगा।

सत्य से अनुरंजित भाषा-विवेक

भाषा का सुसंस्कारों से विभूषित होना इसी कारण अनिवार्य माना गया है कि वह सदा सत्य से अनुरंजित रहे। यही भाषा का विवेक है। इस विवेक को विकसित बनाने के कुछ उपाय इस प्रकार हो सकते हैं–

(1) कम से कम बोला जाय और जितना अति आवश्यक हो उतना ही बोला जाय। इससे वाणीशक्ति का संचय भी होगा।

(2) बोलने से पहले दो क्षण सोचकर बोला जाय कि उसे क्या बोलना है और किस विधि से बोलना है। भाषा–विवेक को सतत जागृत रखने का यह कारगर उपाय है।

(3) मौन रखने की प्रवृत्ति का विकास किया जाय, जिससे विचार एवं आचार शक्तियों को सन्तुलित बनाने का अवसर मिल सके।

(4) किसी को कटु, तुच्छ या कष्टकारी वचन न बोले जायें। यह विचार सामने रखा जाय कि कोई दूसरा उसे ऐसा ही कटु, तुच्छ या कष्टकारी वचन बोले तो उसके दिल पर कैसी गुजरेगी।

(5) एक–एक वचन जो किसी को भी बोला जाय या भाषा का प्रयोग किया जाय, वह झूठे दोषारोपण से युक्त कभी नहीं होना चाहिये और न ही किसी के रहस्य या गोपनीय तथ्य का उसमें पर्दाफाश हो।

(6) भाषा–विवेक की कसौटी इसमें है कि जो कुछ बोला जाय, वह सदा मिष्ट हो। वचनों में दरिद्रता क्यों ? बोलने में तो पैसा–टका लगता नहीं है, फिर उसमें कंजूसी क्यों की जाय ? वाणी में मिठास घुला हुआ रहे–यह तो पूरी सरलता से किया जा सकता है।

(7) जो कुछ बोला जाय, वह मिष्ट तो हो, किन्तु इष्ट और हितकारी भी हो। भाषा का प्रयोग करते समय प्रत्येक शब्द ऐसा ही हो तथा उसका उच्चारण भी इसी तरह किया जाय कि वह सामने वाले को मिष्ट, इष्ट तथा हितकारी प्रतीत हो।

मूल में भाषा–विवेक की पुष्टि को सदा सत्य के दर्पण में देखते–परखते रहना चाहिये। भाषा–विवेक की कसौटी सत्य ही होगी और सदा सतर्कतापूर्वक सत्य का प्रयोग ही भाषा–विवेक को समुन्नत बना सकेगा। जब सत्य को भगवान कहा गया है तो सत्याश्रय के सिवाय किसी अन्य आश्रय को खोजना ही क्यों चाहिये ?

सत्य को मन, वाणी और कर्म से अपनाइये तथा हर समय उसकी प्राणपण से रक्षा करने हेतु सन्नद्ध रहिये।

★
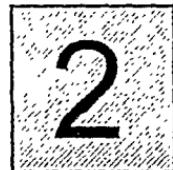
वचन बाण के गहरे घाव

मन, वाणी और कर्म की एकरूपता से ही भाषा–विवेक का जन्म होता है। इन तीनों में जितने अंशों में भेद या विभिन्नता रहेगी, उतने अंशों में भाषा का प्रयोग क्रूर, कटु और अविवेकपूर्ण होगा। प्रयुक्त की जाने वाली भाषा का अर्थ वही हो सकता है, जिसे कि प्रकट करना है–किन्तु शब्दों का चयन उसमें भी अन्तर डाल देता है। छोटा सा उदाहरण है–किसी के जंवाईजी के आने की सूचना कोई इन शब्दों में दे कि तुम्हारी बेटी का 'माटी' (पति) आया है और कोई इन शब्दों में कि आपके जंवाई साहब पधारे हैं, तो दोनों के भाषा प्रयोग का अर्थ तो वही है किन्तु शब्द चयन का आकाश पाताल का अन्तर हो जायगा। जहां एक प्रकार का शब्दचयन असम्मानजनक और कष्टकारी प्रतीत होगा, वहां दूसरे प्रकार का शब्दचयन सम्मानजनक और प्रियकारी। अर्थ एक होते हुए भी शब्दचयन विभिन्न रूप से प्रभावकारी बन जाता है। यही भाषा का अविवेक और विवेक है।

यह तो सामान्य भाषा–विवेक होता है कि सम्मानजनक और प्रियकारी रीति से बोला जाय, किन्तु ध्यानपूर्वक विवेक तो वहां रखा जाना चाहिये, जब वास्तव में जिस व्यक्ति से कुछ कह रहे हैं, उसके प्रति अपनी भावशुद्धि न हो। क्योंकि जब ध्यान नहीं रखा जाता है तो हृदय में रहा हुआ विद्वेष अथवा अशुभ भाव भाषा में उतरे बिना नहीं रहता है। ऐसा अशुभ भाव ही भाषा–प्रयोग के विवेक को नष्ट कर देता है तथा उसे कटु और कभी–कभी क्रूर तक बना देता है। ऐसे भाषा–प्रयोग का दुष्प्रभाव लम्बे समय तक टिकने वाला और घातक होता है। इसीलिए कहा जाता है कि वचनबाण के घाव बहुत गहरे होते हैं। शरीर पर लगा हुआ तलवार का कैसा भी घाव कुछ समय बाद भर जाता है और कालान्तर में भुला भी दिया जाता है, लेकिन हृदय पर लगा हुआ वचन

का घाव कभी नहीं भरता। उसकी टीस भुलाई भी नहीं जा सकती है। अतः हर समय अपने भाषा विवेक को बनाये रखने पर सबसे ज्यादा बल दिया जाना चाहिए।

जहर भी अमृत भी

जिह्वा वही होती है, लेकिन बोली–बोली का भारी अन्तर पड़ जाता है। इसी जिह्वा में जहर भी होता है शहद भी होता है। यह भाषा के कर्त्ता पर निर्भर करता है कि वह जिह्वा के किस तत्त्व का प्रयोग करे। भाषा का जहर किसी के भी दिल को घातक चोट पहुंचाता है, उसके प्रतिशोध को उभाड़ता है तथा समग्र वातावरण को विषाक्त बनाता है। वही शहद मिली भाषा शत्रु तक के दिल को मधुरता का स्पर्श करा देती है, प्रेम की नई लहर पैदा करती है और हृदय परिवर्तन तक का आदर्श उदाहरण भी उपस्थित करवा सकती है।

अन्तःकरण की गूढ़ता में उतरकर यह बिन्दु विचारणीय बनता है कि जब अपने पास किसी को मारने वाला जहर भी मौजूद है और किसी को नया जीवन देने वाला शहद रूप अमृत भी, तो दोनों पदार्थों में किसका उपयोग करना चाहिये ? कलुषित मनोवृत्तियों के साथ इस पर विचार करेंगे तो सही उत्तर नहीं मिलेगा क्योंकि राग और द्वेष के धरातल पर चलने वाली सांसारिकता प्रतिशोध और प्रतिहिंसा की प्रतिक्रिया को ही भड़काती है। वास्तविकता का ज्ञान हृदय की गूढ़ता में उतरने से ही होता है तथा वहीं से शुद्ध भावनाओं की लहरें उठती हैं। इस कारण हृदय के अन्तस्तल से मिलने वाला उत्तर ही आत्मा का स्वर होगा और वह सदा शहद रूप अमृत का उपयोग करने का ही आग्रह करेगा। जो भी, जैसे भी स्वभाव का व्यक्ति आपके सम्पर्क में आता है, उसे आप अपने विवेकपूर्ण भाषा–प्रयोग से नया जीवन देने का प्रयास करो –यही समुचित होता है और वांछनीय भी। उसे जहर पिला कर क्यों मौत का मुंह दिखाओ और यथार्थ में आप स्वयं क्यों मौत का मुंह देखो।

किसी की जिह्वा जब जहर का उपयोग करती है तो क्या वह स्वयं जहर के दुष्प्रभाव से बच सकती है ? जिह्वा पहले जहरीली बनती है तभी जहर छोड़ती है। उस जहर का बुरा असर सामने वाले पर कितना हो–यह दूसरी बात है, लेकिन जहर छोड़ने वाले के तो समस्त आत्म प्रदेशों में तथा शरीर के सारे अंग प्रत्यंगों में वह जहर फैल ही जाता है और उन्हें जहरीला बना ही देता है। तो इस जिह्वा के जहरीले प्रयोग से आत्मघात पहले होता है और अन्य–घात बाद में। ऐसे भारी जोखिम के काम में क्या पूरी सावधानी जरूरी

नहीं है ?

और सिर्फ सावधानी ही तो चाहिये, बाकी शहद भी तो इसी जिह्वा में भरा हुआ है जो दोनों को मधुरता के साथ प्रसन्नता का अनुभव कराता है।

कषाय के तरकस से निकले वचन-वाण

वास्तव में वे ही वचन बाण के समान तीखे और गहरे घाव करने वाले होते हैं जो कषाय के तरकस से निकल कर सामने वाले के दिल को बेध डालते हैं। इन वचन–बाणों के घाव हमेशा हरे रहते हैं और प्रतिक्रियाओं के तूफान उठाते रहते हैं। ऐसी प्रतिक्रियाएं कितनी विनाशकारी सीमाओं तक पहुंची हैं–ऐसे उदाहरणों से इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं। महाभारत स्वयं किसका परिणाम था ? वचन–बाण के घाव से ही तो यह विनाश रिसा था। एक या दूसरे में क्या, ऐसी वचनप्रहार की दुर्घटनाएं तो दुनिया के सभी देशों में घटी हैं और युद्धों के महाविनाश तक पहुंची है। व्यक्ति के जीवन में भला फिर ऐसी दुर्घटनाओं का क्या हिसाब, जहां भाषाप्रयोग का विवेक विकसित नहीं हुआ हो ! सच तो यह है कि व्यक्ति के भाषाप्रयोग के घातक अविवेक से फूटा हुआ जहर ही तो राष्ट्र की सीमाओं तक फैलकर युद्धों और हिंसक विवादों के विनाशकारी कांड रचता है।

ये वचन बाण का रूप क्यों ले लेते हैं ? जिन वचनों को दिल मिलाने वाले और मुस्कुराहटें खिलाने वाले मीठे होना चाहिये, वे भला इतने तीखे क्यों हो जाते हैं ? इस तथ्य की तह में उतरना चाहिये। वस्तुतः वचन में वही उतरेगा जो मन में होगा और मन में होती है जब कषाय की आग, तब वचन बाण के समान तीखा बनता है। यह कषाय क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की वृत्तियों के रूप में होती है। ये वृत्तियां अपनी तारम्यता के अनुसार कई प्रकार की हो जाती हैं और भाषा के माध्यम से उनके प्रकटीकरण पर उनका प्रभाव भी विविध रूपों में दृष्टिगत होता है। अपने क्रूरतम दुर्भावों के साथ क्रोध, फटे हुए पर्वत की दरार के कभी न मिल पाने के समान कभी शांत नहीं होता, मन, पत्थर के खंभे की तरह कभी नहीं झुकता, माया, बांस की टेढ़ी–मेढ़ी जड के रूप में कभी सीधी नहीं होती और लोभ किरमिची रंग के गहरेपन के समान कभी नहीं छूटता। शास्त्रो ने इसे कषाय का अनन्तानुबंधी रूप माना है। इसी प्रकार इन कषायों के अल्पतर प्रभावी रूप होते हैं–अप्रत्याख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय एवं संज्वलन। संज्वलन रूप अल्पमत प्रभाव वाला होता है जिसमें क्रोध पानी में खिंची लकीर के मिटने के समान शीघ्र शान्त हो जाता है, मान नरम बेंत की तरह शीघ्र

सीधा हो जाता है, माया बांस के छिलके की तरह पल भर में सरल बन जाती है तो लोभ हल्दी के रंग की तरह तुरन्त छूट जाता है।

इस प्रकार जितने प्रभाव वाली कषाय का जो विकार जितने अंशों में मन में समाया हुआ हो, उतनी ही तीव्रता उसके वचन–प्रयोग में प्रकट होती है। ऐसे विकार अपने किसी स्वार्थ–पूर्ति के सम्बन्ध में भी पैदा हो सकते हैं तो किसी दूसरे के तदनुरूप व्यवहार से भी। ये विकार राग–द्वेष का रूप लेते हैं और सर्व प्रकार की कलुषता के कारण बनते हैं। इस कारण से बाण जैसे तीखे वचन सदा ही कषाय के तरकस से निकलते हैं और दिल को भी लगते हैं, उसे बेधकर छलनी बना देते हैं।

पहले तोलो, फिर बोलो

वचन–बाण तलवार से भी अधिक तीखे होते हैं और तलवार से भी ज्यादा गहरा घाव करते हैं। अतः सोचकर ही बोलना चाहिये। यह सोचकर भी उस परिमाण में गहरा होना चाहिये जिस परिमाण में कषायों की कलुषता का आधिक्य हो। भाषा–विवेक का सामान्य नियम भी यह है कि एक–एक शब्द पहिले तोलो फिर बोलो।

इस तोलने और बोलने की उक्ति के मर्म को मन में उतारना चाहिये। चाहे अपने मन के विचारों को स्वयं ही प्रकट कर रहे हों अथवा किसी के प्रश्न या चर्चा का उत्तर दे रहे हों या चाहे सामान्य रूप से वार्तालाप कर रहे हो, भाषा–विवेक के सम्बन्ध में कभी असावधानी नहीं होनी चाहिए। असावधानी नहीं होना एक बात है लेकिन इस भाषा प्रयोग के स्थान पर यह कहना चाहिए कि पूरी सावधानी होनी चाहिए। जिसका अर्थ है कि एक–एक शब्द को पहिले तोलो याने उसके अर्थ और प्रभाव पर सोचो और उसका प्रयोग विवेकपूर्ण लगे तभी तक बोलो याने मुंह से निकालो। इतनी सावधानी रहेगी तो वचन का दोष मुश्किल से ही लगेगा।

इतनी सावधानी का यह भी अर्थ होगा कि आप मितभाषी बनें, कम से कम बोलें। कम से कम बोलेंगे, तभी अपनी बोली के स्वरूप का पूरा ध्यान रख सकेंगे। अधिकतम बोलने वाला अपने शब्दों के स्वरूप पर कहां तक ध्यान दे पायेगा ? कम से कम जितना आवश्यक हो उतना ही बोलना होगा। तो एक–एक शब्द का पूरा ध्यान दिया जा सकेगा जिससे वह किसी को कष्टकर न लगे। बाण जैसा तीखा वचन तो कभी नहीं निकलेगा।

भाषा-विवेक और सत्य के सोपान

भाषा–विवेक जितना सुघड़ बनता जायेगा उतना ही मृषावाद से पीछा छूटता जायेगा और सत्य की साधना होती जायेगी। वास्तव में भाषा–विवेक की सम्पूर्णता सत्य में ही समाहित होती है।

भाषा–विवेक के विकास के साथ ही मृषावादविरमण एवं सत्य–रमण आरम्भ हो जाता है। एक सम्यक्त्वधारी साधक जब श्रावकधर्म के अणुव्रत स्वीकार करता है तब वह अपने दूसरे अणुव्रत में मृषावाद (झूठ) के स्थूल रूपों का त्याग करता है तथा तदनुसार सत्य के अनुशीलन की प्रतिज्ञा लेता है। इस दूसरे स्थूल मृषावादविरमण व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार कहे गये हैं– (1) सहसाकार से किसी के प्रति झूठा दोषारोपण किया हो, (2) एकान्त में गुप्त बातचीत करते हुए व्यक्तियों पर झूठा आरोप लगाया हो, (3) अपनी स्त्री, पति का मर्म (गुप्त तथ्य) प्रकाशित किया हो, (4) झूठा उपदेश दिया हो, (5) झूठा लेख लिखा हो या लेखा किया हो तो इन सब अतिचारों के लिये एक श्रावक को अपने दोषों की आलोचना करनी चाहिए। इसके संदर्भ में भाषा–विवेक यह होगा कि बोलने में झूठ का प्रयोग न किया जाय, चाहे वह सादा वार्तालाप हो या उपदेश तथा ऐसे शब्दों का प्रयोग भी नहीं किया जाय जो किसी की गोपनीयता उघाड़ कर उसके हृदय को असह्य कष्ट पहुंचाता हो।

एक सद्गृहस्थ या श्रावक के लिए जहां भाषा विवेक की स्थूल मर्यादा है, वहां समग्र जीवन के साधक साधु वर्ग के लिए सम्पूर्ण मृषावाद का त्याग होता है तो समिति एवं गुप्ति चर्या के माध्यम से भाषा–विवेक की सूक्ष्मतम मर्यादा होती है क्योंकि इस वर्ग को सत्य का सम्पूर्णतः अनुशीलन करना होता है। निष्ठापूर्वक सत्यानुगमन से भाषा का विवेक सिद्ध हो जाता है और ज्यों–ज्यों सत्य के सोपानों पर ऊपर से ऊपर आरूढ़ होना होता है, त्यों–त्यों भाषा प्रयोग अधिक से अधिक हित, मित और मिष्ट होता जाता है।

वचन के आईने में विचार और व्यवहार

वचन वह आईना है जिसमें विचार और व्यवहार के यथार्थ चित्र खिंचते हुए चले जाते हैं और इतना ही नहीं, वे सबके द्वारा भली–भांति देखे जा सकते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि आप जो भी बोलते हैं उसी से आपके विचारों और कार्यों का आभास हो जाता है अथवा यों कहिये कि आपके जीवन की छवि की पूरी झलक आपके द्वारा बोले गये वचनों में मिल जाती है। आप अपनी बोली से दूसरे के सामने खुल जाते हैं कि आप कुल मिलाकर क्या हैं।

इससे आपको समझना चाहिये कि अकेली बोली का कितना महत्त्व है। फिर उस बोली में से कटुता, क्रूरता, तीव्रता आदि विकारों को जल्दी से जल्दी दूर कर देना कितना आवश्यक है।

ध्यान रखिये, वचन आपके सम्पूर्ण जीवन का आईना होता है। यह आईना जितना मैला, ऊबड़खाबड़, बेतुका और धूलसना होगा, उतनी ही आपकी आकृति क्रूर, कुटिल, कुरूप और कलुषित दिखाई देगी। लोग आपकी जैसी आकृति देखेंगे, वैसी ही प्रतिष्ठा देंगे। इस पर आपके वचनबाण और तीखे हुए तो उसका घाव खाये हुए दिल कभी भी आपकी हितकामना नहीं करेंगे, क्योंकि वैसे घाव भरते नहीं हैं और दीर्घकाल तक पीड़ा पहुंचाते रहते हैं। अपने वचन सुधार लीजिये तो उससे विचार और व्यवहार भी सुधर जायेगा तथा सम्पूर्ण जीवन में विकार संशोधन की प्रक्रिया सक्रिय बन जायेगी।

हित, मित, इष्ट, मिष्ट वचन ही बोलें

आप चाहे यहां धर्म धर्मस्थानक में किसी धार्मिक क्रिया में लगे हुए हों या दुकान, ऑफिस में अपना व्यावसायिक कार्य कर रहे हों, अथवा घर के प्रबन्ध संचालन पर विचार–विमर्श कर रहे हों या सामान्य वार्तालाप कर रहे हों, प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक समय आपका भाषा–विवेक इतना सावधान और जागृत रहना चाहिये कि आपके वचन किसी के भी हृदय को बाण की तरह छेदें नहीं, बल्कि उसे तनिक भी कष्ट नहीं पहुंचाये और प्रयास यह रहे कि प्रत्येक हृदय को सद्‌भाव का स्पर्श मिले।

★

स्वभाव सन्तुलन से हृदय परिवर्तन

आप प्रतिदिन सुनते हैं, लेकिन समझते हैं कि वचनामृत क्या है ? यह वचनामृत शब्द दो शब्दों के मेल से बना है–वचन+अमृत, अर्थात् वचनों का अमृत। अब तो आप समझ गये होंगे कि वचनों का अमृत क्या होता है। वीतराग देवों का वचनामृत आप रोज पीते हैं न ?

भाषा विवेक के परिपक्व विकास से कोई साधक अपनी वचनशक्ति को पूर्णतया हित, मित, इष्ट और मिष्ट बना लेता है, तब वह एक प्रकार से सिद्धवचन हो जाता है। उसके मुख से जो भी वचन निकलते हैं, वे सुनने वाले के हृदय पर अपना श्रेष्ठ प्रभाव छोड़ते हैं। जिन लोगों के हृदय कम भावनाशील होते हैं, वे भी उसके वचनों से प्रभावित हो जाते हैं। वचन की प्रामाविकता का अर्थ होता है कि उससे जीवन में उन्नतिकारी परिवर्तन आवे। इस दृष्टि से भाषा–विवेक की परिपक्वता का यही लक्षण माना जायगा कि वह हृदय–परिवर्तनकारी बन जाय।

फिर जो दिव्य विभूतियां ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के उच्चतम शिखर पर आरूढ होकर वीतराग, अरिहन्त और तीर्थंकर बन जाती हैं उनके श्रीमुख से निस्सृत पतितपावनी, जगत् कल्याणकारी जो अलौकिक वाणी उपदेशधारा बनकर प्रवाहित होती है, वह सर्वथा पूज्य और अनुकरणीय कहलाती है। क्योंकि जो भी भव्य आत्मा उन उपदेशों को अपने जीवन में उतारती है, वह अपना परम कल्याण साध लेती है। तो जो वचन एक हृदय को एक समय के लिए ही नहीं बल्कि समस्त हृदयों को सम्पूर्ण समय के लिए नवजीवन प्रदान करते हैं, वे अमृत–वचन कहलाते हैं। इन्हीं वचनों का अमृत वचनामृत होता है।

तो क्या इस मानव जीवन का यह अति सामान्य लक्ष्य भी नहीं होना चाहिये कि एक मानव के वचनों से कम से कम विष तो न बरसे ? वचनों से

अमृत झरने की बात बहुत दूर की बात आपको लग सकती है, लेकिन अग
विष न बरसाने की भी आप सब प्रतिज्ञा ले लें तो अपने और समाज के जीव
के शुभ रूपान्तरण का बहुत कुछ महत्त्व का काम पूर्ण किया जा सकता है

गाली देने वाला क्या दिखाता है ?

जब कोई व्यक्ति सकारण या अकारण आपके सामने आकर अपमानजनक
वचन कहने लगे और और बुरी-बुरी गालियां सुनाने लगे तो उस सम
उसका सम्पूर्ण रूप कैसा दिखाई देता है ? लाल पीली आंखें, तनी हुई भौंहे
खिंचा हुआ चेहरा, नाचते हुए हाथ और विद्रूपता के साथ निकलते हुए तीखे
कडुए और कष्टदायक वचन। यह तो उसका बाहर का रूप हुआ, किन्
उसके अन्तर्हृदय का रूप कितना प्रतिशोधात्मक होता है- यह वही जानत
है। लेकिन जो वह अपना बाहरी रूप दिखाता है, उससे और खास तौर प
उसके वचनों से उसके भीतर का नक्शा साफ हो जाता है।

गाली देने वाले के बाहर-भीतर का ऐसा नक्शा कौन देख पाता है
क्या प्रत्येक गाली सुनने वाला देख पाता है ? अधिकतर तो गाली देने वा
के विद्रूप को देखते ही गाली सुनने वाला उससे भी अधिक रौद्र रूप धार
कर लेता है, तब तक आवेश में रूप-दर्शन और आकृति-अध्ययन का भान ह
किसे रहता है ? फिर तो दोनों पक्ष का दूसरे पर वचनों के तीखे तीखे बा
छोड़ने की होड़ पर उतर आते हैं बिना पल भर को भी यह सोचे कि इ
वाग्बाणों का दुष्प्रभाव किस घातक सीमा तक पहुंच सकता है। यह तो होत
है भाषा की कुत्सितता की घिनौनी बात। इसे भाषा का अविवेक न कहें त
क्या कहें ?

गाली देने वाले के उस विद्रूप को देखकर अगर गाली सुनने वा
एकदम चुप रह जाता है-बाहर से ही नहीं, भीतर से भी शान्त, तो वह स्थि
भाव से उसके बाहर के विद्रूप को भी देख सकता है, उसके भीतर के रौद्रभा
को भी समझ सकता है तथा उसके भीतर-बाहर के नक्शे का बारीक अध्यय
भी कर सकता है।

तभी वह समझ सकता है कि गाली देने वाला क्या दिखाता है ? व
वही तो दिखाता है, जो कुछ उसके पास होता है। क्या यह सही है कि
उसकी देखादेखी आप भी वही दिखाने की कोशिश करें-शायद है जो आपके
पास नहीं हो ?

प्रतिक्रिया कैसी होती है, कैसी होनी चाहिये ?

गाली देने वाले की गाली सुनने वाले पर सामान्य प्रतिक्रिया यही देखने को मिलती है कि एक गलत उत्तेजना को दूसरा भी पकड़ लेता है और दोनों वचन–विकार के एक–से गटर में बहने लगते हैं। कभी यह भी देखने को मिलता है कि गाली सुनने वाला धीमे मिजाज का भला आदमी होता है तब भी उत्तेजना में आकर नये वचन–विकारों को इकट्ठे कर लेता है।

लेकिन क्या 'गाली के बदले गाली' की ही प्रतिक्रिया होनी चाहिए ? ऐसी प्रतिक्रिया नहीं हो, यही भाषा–विवेक है। गाली देने वाले के पास जो कुछ था उसने दिखा दिया तो क्या यह जरूरी है कि जो आपको नहीं चाहिये, उसे भी आप हठात् लेते ही रहें ? आपका भाषा विवेक जागृत हो और आप यह जान जावें कि जो हमें नहीं चाहिये, उसे उत्तेजनावश लेकर अपने दिल को काला क्यों करें तो आपकी प्रतिक्रिया जैसी होनी चाहिये, वैसी ही होगी। आपका भाषा विवेक आपको क्षमाशील और सहनशील बनाने लगेगा। तब आपके सामने गाली देने वाला कितना ही उग्र क्यों न बन जाय, आप उत्तेजित नहीं होंगे और न ही अपनी मानसिकता को किसी भी रूप में असन्तुलित होने देंगे।

एक दृष्टांत से गाली की क्रिया व प्रतिक्रिया को समझिये। एक मुनि राजमार्ग पर निकल रहे थे तभी एक व्यक्ति उन पर अकारण ही कुपित हो उठा और उन्हें अपमानजनक गालियां देने लगा। मुनि ठहर गये और शान्त भाव से वह सब सुनते रहे जो वह व्यक्ति कहता रहा। कहकर वह थक गया और चुप हो गया, तब मुनि बड़े ही मिष्ट वचनों से बोले– भाई ! तुम्हारे दिल की दुकान पर और भी कुछ माल है या था सो सब दिखा चुके ? वह व्यक्ति कुछ नहीं कह सका, तब मुनि ही बोले भाई, इस सब माल में से तो मुझे कुछ नहीं चाहिये। अपना माल तुम अपनी दुकान पर ही रखो, लेकिन अगर तुम मेरी दुकान का माल देखना चाहो तो शायद है तुम्हें बहुत कुछ पसन्द आ जाय। इन वचनों का उस व्यक्ति पर गहरा प्रभाव हुआ, लेकिन दूसरे दिन जब उसने उन मुनि का प्रवचन सुना तो वह पानी पानी हो गया। उसने जीवन पर्यन्त के लिए भाषा–विवेक की प्रतिज्ञा ले ली।

तो गाली सुनने वाले की प्रतिक्रिया ऐसी होनी चाहिये कि गाली देने वाले का दिल ही बदल जाय। यह पुष्ट एवं परिपक्व भाषा–विवेक का

हृदय–परिवर्तनकारी स्वरूप होगा।

कोई भाषा–विवेक को खोने वाले का हृदय परिवर्तन करने में समर्थ बन सके– उसके लिये पहिले उसे अपने भाषा विवेक के विकास से अपना स्वभाव सन्तुलन साधना होगा। यह भाषा विवेक का पहला और प्रारम्भिक चरण होगा।

भाषा–विवेक का अभ्यास ही इस बात से शुरू होना चाहिए कि पहले अपने ही दिल को बारीकी से जांचें परखें तथा उसकी गन्दगी और बुराई को बाहर निकाल फैंके। अभ्यासपूर्वक दिल की इतनी सफाई कर दें कि कोई किसी भी खिड़की से कैसी भी गन्दंगी भीतर फैंकने की चेष्टा करे तो भी दिल उसे मंजूर नहीं करे। वह अप्रभावित बना रहे। तभी अपना दिल सहनशील भी होगा तो क्षमावान भी। उत्तेजना नहीं उपजने से सामने वाले के वचनप्रवाह को आप सहनशीलता से झेल सकेंगे तो गाली देने वाले को सच्चे हृदय से क्षमा भी कर सकेंगे। बार–बार आने वाले ऐसे कई मौकों पर भी जब सहनशीलता और क्षमा के सद्‌गुण सक्रिय बने रहेंगे, तब ही कहा जा सकेगा कि स्वभाव–सन्तुलन सध गया है। यह विश्वास हो जायगा कि आपको, स्वयं को और सबको कि आप किसी भी परिस्थिति में कभी उत्तेजित नहीं होंगे तथा अपने स्वभाव–सन्तुलन को बराबर बनाये रखेंगे।

तब भाषा का दूसरा चरण प्रारंभ होगा। वह होगा अपने स्वभाव–सन्तुलन के सुप्रभाव से दूसरों को प्रभावित करना तथा उनके हृदय को परिवर्तित बना कर उनके भाषा–विवेक को जागृत करना। हृदय–परिवर्तन का यह कार्य स्वभाव सन्तुलन से कठिनतर होगा, क्योंकि पहले तो स्वयं की जागृति से स्वयं की वृत्तियों को नया मोड़ देना था किन्तु अब दूसरों की वृत्ति–क्लिष्टता को समझकर तथा अपनी मृदुलता को तदनुसार बढ़ाकर नाना प्रकार के प्रयोगों से उनमें हृदय–परिवर्तन लाना होगा तथा यह प्रयास करना होगा कि वह शुभ परिवर्तन स्थायित्व ग्रहण करे तथा आगे से आगे प्रभावकारी बने।

भाषा–विवेक के ये दो चरण पूरे कर लें तो तीसरा चरण वचन–सिद्धता का प्राप्त हो जायगा।

अभ्यास की प्रक्रिया क्या हो ?

दूसरों के मुंह से गाली सुनकर अपना हृदय कलुषित मत होने दो। वह भीतर भरी हुई अपनी गन्दगी बाहर निकालता है तो क्या इसका मतलब यह है कि तुम उसे अपने भीतर डाल लो ? अर्थात् गाली के खिलाफ वापिस गाली

बोलकर अपने हृदय में गन्दगी न करो।

इस सत्य वचन को साधने का आप अभ्यास कैसे करें ? उसकी प्रक्रिया क्या हो ? यह जानने की आपकी जिज्ञासा अवश्य जगी होगी। इस सम्बन्ध में प्राचीन काल की यह उक्ति बड़ी मार्मिक है कि 'निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय' अर्थात् अपनी निन्दा करने वाले को अपना उपकारी मानो और उसे अपने ही आंगन में कुटी बनवा कर अपने पास रखो। ऐसा क्यों ? क्या होगा इससे ? यह सारपूर्ण उक्ति है। इससे वह भावनात्मक लाभ होगा तथा वह भाषा–विवेक सधेगा, जिसकी कोई तुलना नहीं।

आपका निन्दक याने आपको गाली देने वाला जब हर समय आपके सामने होगा और आपके मुंह पर आपकी निन्दा करता रहेगा, व आपको गालियां देता रहेगा, तब आप क्या करेंगे ? उसे अपने पास रखना है तो क्या आप रोज गाली देने के बदले स्वयं भी गाली देने का ही काम करेंगे ? दोनों बातें एक साथ चलेंगी नहीं याने कि सब्र का प्याला आपको ही पीना पड़ेगा। आपके ही मन को समझना होगा कि गाली सुनकर गाली न दी जाय–यह तो ठीक, लेकिन गाली सुनकर भीतर भी कोई विचार नहीं लाना होगा। विचार नहीं लाना भी प्राथमिक बात होगी। अन्ततोगत्वा तो गाली देने वाले के प्रति सहनशीलता और क्षमा के भाव ही सुदृढ़ बनाना होगा। आप सच्चे दिल से महसूस कर लेंगे कि आपकी इस भावनात्मक प्रगति का श्रेय उस निन्दक को है और उसका आप पर इस रूप में परम उपकार है, तभी आप आश्वस्त हो सकेंगे कि अभ्यास की प्रक्रिया सफलता की ओर आगे से आगे बढ़ रही है तथा स्वभाव सन्तुलन की आपकी साधना पुष्ट हो गई है। इस प्रकार अपने हृदय परिवर्तन का दायित्व अपने हाथ में लिया जा सकेगा। भाषा–विवेक के सुघड़ अभ्यास की यही प्रक्रिया और दिशा है।

गले लगाओ

भाषा–विवेक के इस सारे विश्लेषण का एक सार वाक्य यह है कि गाली देने वाले को गले लगाओ और फिर देखो कि व्यक्ति और समाज के जीवन में प्रगतिशील परिवर्तन कितनी तेजी से लाये जा सकते हैं। गाली देने वाले को गले लगाने में आपकी मानवता की जीत होगी, आपके मानवीय मूल्य और आपकी मानवीय संवेदनाएं निखरती जायेंगी तथा एक बाती से हजारों बातियां जलाते जाने के समान पीड़ित एवं दलित मानवता के उद्धार का एक भागीरथ कार्य प्रारम्भ किया जा सकेगा।

एक छोटी सी बात कितनी बड़ी कामयाबी हासिल कर सकती है—इसकी शुरू में तो कल्पना भी संभव नहीं होती। वास्तव में छोटी–छोटी बातें जिनकी ओर ध्यान साधारण रूप से जाता भी नहीं है, यदि आपको आकर्षित कर सकें और उन पर आप अपना पूरा–पूरा ध्यान देने लगे तो ये छोटी–छोटी बातें ही आपकी आदतों में ढलकर आपके स्वभाव को मृदुल, त्यागमय और बलिदानपूर्ण बना देगी। छोटी–छोटी बातों को अगर भली रीति से जीवन में उतारें तो बड़े बड़े परिणाम सामने आ सकते हैं। बोली बदलने की बात यों छोटी लग सकती है, लेकिन अब तक आप समझ चुके होंगे कि यह बात हकीकत में कितनी बड़ी है। सिर्फ वचन तोलकर हित, मित, इष्ट और मिष्ट बोलने का ही कितना विशाल सुपरिणाम विशालतर क्षेत्र में प्रकट है सकता है उसका अनुमान लगाना भी कठिन है। अतः भाषा–विवेक के महत्त्व को कभी भी कम करके नहीं देखा जाना चाहिये।

सर्वत्र आज जिस रूप में विद्वेषपूर्ण वातावरण फैला हुआ है, उसमें भाषा विवेक के विकास की प्रबल आवश्यकता है। भाषा प्रयोग की दृष्टि से अपना दिल बदलकर दूसरों के दिल को बदलने का यदि व्यापक पैमाने पर सत्कार्य किया जायगा और प्रभावशाली अभियान चलाया जायेगा तो आशा की जा सकती है कि इस विद्वेषपूर्ण वातावरण को प्रेममय वातावरण में रूपान्तरित कर सकें। जहां–जहां कटुता दीखे, कलुष नजर आवे क्रूरता तांडव मचाती हो, वहां प्रेम और सहयोग की वचन गंगा को बहाते चलो। प्रेम की रसधारा में डूब कर कौन अधम से अधम भी अपना हृदय परिवर्तन नहीं कर लेगा ?

कर्त्तव्य पालन

卐 यह विचार छोड़ो कि दूसरे क्या करते हैं और क्या नहीं करते। जो कुछ तुम्हारे अच्छे कर्त्तव्य है, उन्हें अकेले ही करना पड़े तो किये चलो, दूसरों के बारे में तनिक भी न सोचो कि वह करेगा या नहीं।

卐 जितना कर सकते हो, उतना ही करो और जो कुछ कहो उसे पूर्ण कर दिखाओ। यही सच्ची ईमानदारी है।

卐 पुत्र को जन्म देकर उसे सुसंस्कारी न बनाना घोर नैतिक अपराध है। माता पिता का परम कर्त्तव्य है कि वे अपनी संतान का शरीर पोषण ही नहीं, आत्मिक सद्गुणों के पोषण, संरक्षण की ओर भी ध्यान दें।

卐 माता–पिता का संतान पर असीम उपकार होता है। उस उपकार का बदला चुकाना सहज नहीं है। धर्म मार्ग पर आरूढ़ करने वाला पुत्र अपने माता–पिता के उपकारों से मुक्त हो सकता है। संतानों का कर्त्तव्य है कि वे अपने माता पिता की तन, मन, धन और जीवन से सेवा–सुश्रुषा करें।
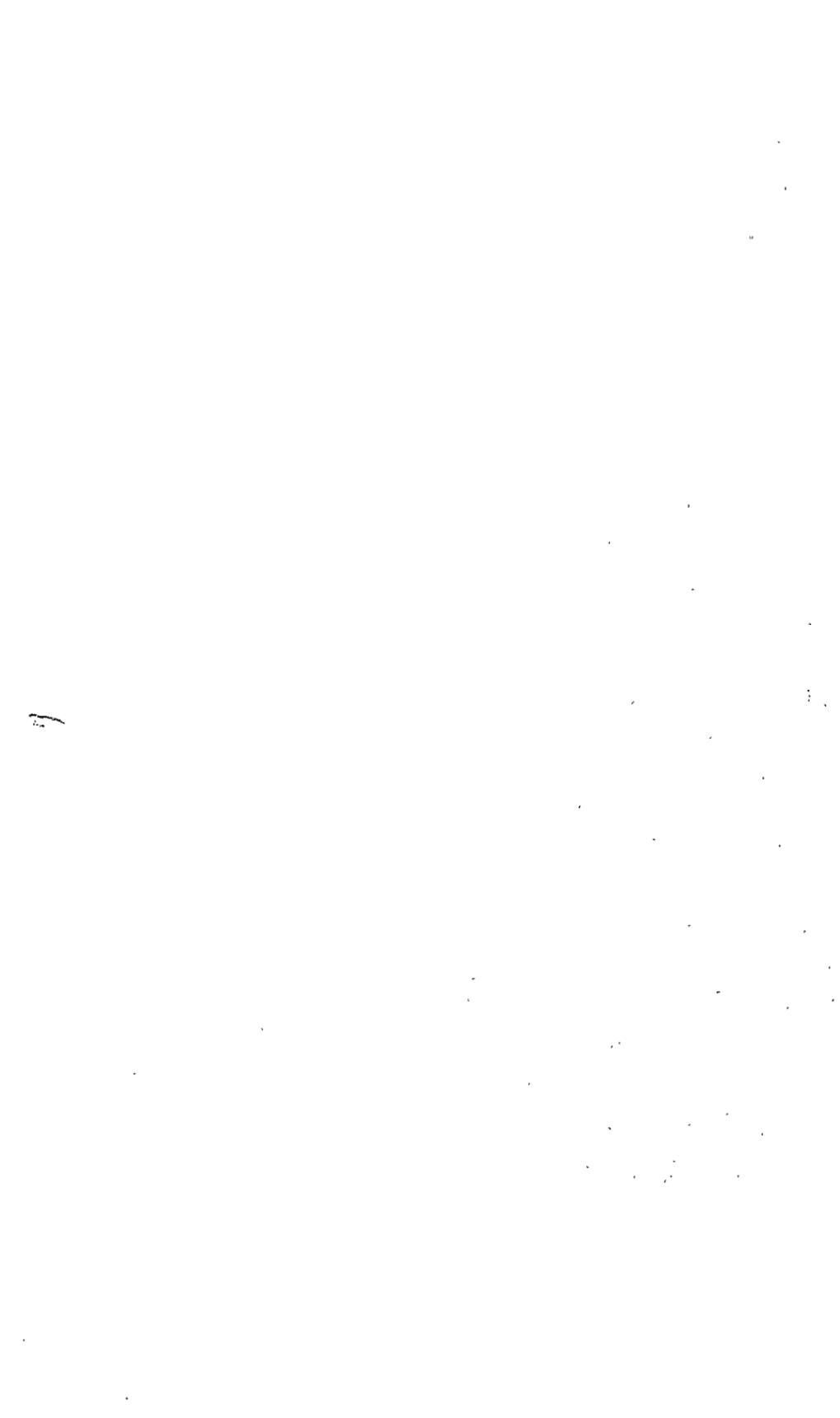
बन्धनमुक्ति का साधन-कर्त्तव्य पालन

भगवान महावीर ने वन–प्रान्तर में विष की आग फैलाने वाले चंडकौशिक सर्प को उद्‌बोधन दिय कि 'संबुज्झह, किं न बुज्झह ? अर्थात् समझो और जागो, क्यों नहीं, सम्बोधित होते हो ? भगवान ने चंडकौशिक को उद्‌बोधन दिया तो क्या वह उद्‌बोधन हमारे लिये नहीं है ? क्या उस सम्बोधन और जागृति को सभी पकड़ रहे हैं ? क्या सम्बोधन है, उनका इस मानव जाति के लिये और किस दिशा में जागृति का प्रकाश फैलाना और आगे बढ़ना चाहिए ?

यह मानव जीवन जो मिला है बुद्धि की वैचारिकता तथा भावना की कोमलता से युक्त, तो क्या यह विचारणीय नहीं कि यह जीवन क्या है ? विवेक का तकाजा यही होता है कि उपलब्ध प्राप्ति के पूर्ण महत्व का अंकन किया जाय तथा सभी पहलुओं से सोचा जाय कि उसका अधिकतम सदुपयोग किस प्रकार किया जा सकता है ? मानव जीवन की प्राप्ति एक अपूर्व एवं अमूल्य प्राप्ति है, फिर इस पर तो गंभीर चिन्तन होना ही चाहिये कि इस जीवन की विशेषताएं क्या हैं तथा उसका सम्पूर्ण सदुपयोग किस प्रकार किया जा सकता है ?

जीवन क्या है–यह मूल प्रश्न एक जागरूक मनुष्य के सामने सतत रूप से खड़ा रहना चाहिये। हर वक्त प्रश्न सामने रहेगा तो हर वक्त उसके उत्तर की खोज बनी रहेगी। सदा खोज का अर्थ है नित नवीन प्राप्ति। सत्य की खोज का यही मार्ग होता है।

जीवन के दो बिन्दु यदि सुनिश्चित कर लिये जायं तो उस जीवन में पथ भ्रष्टता की आशंका नहीं रहती है। ये दो बिन्दु हैं–साध्य और साधन। पहली बात यह है कि इस जीवन का साध्य क्या है ? साध्य का अर्थ है, उद्देश्य लक्ष्य या प्राप्य। यह साध्य सारांश में कहें तो होना चाहिये–बंधन–मुक्ति।

कहीं भी किसी भी प्रकार का बंधन सहन नहीं किया जाना चाहिये। वह बंधन जो जीवन की प्रगति को बांध देता है और गति को स्थगित कर देता है– कभी भी स्वीकार न हो। जीवन की प्रगति बहुमुखी होती है और किसी भी दिशा से आने वाले अवरोध को दूर करके गन्तव्य तक पहुंच जाना यही साध्य है। और अब साधन–साध्य स्पष्ट हो जाता है तो साधन की स्पष्टता को पहिचानना कठिन नहीं। जो साधन अपनाया जा रहा है, वह निरन्तर इस कसौटी के नीचे रहना चाहिए कि साध्य की दिशा में ही उसका सहयोग है अथवा नहीं। फिर कोई भी साधन, जो उस दिशा में क्षति पहुंचाता हो, टिक नहीं सकेगा।

तो जीवन का साध्य हुआ बन्धन मुक्ति अर्थात् सर्व स्वाधीनता याने समता की पूर्ण समरसता। और उसके साधन को भी एक शब्द में कहे तो वह होगा–कर्त्तव्य–पालन।

कर्त्तव्य-पालन में सब कुछ समाहित

कर्त्तव्य पालन एक ऐसी सबल और सुन्दर प्रक्रिया है जो यदि निर्बाध रूप से चलती रहे तो जीवन की संस्कृति एवं प्रगति का सब कुछ उसमें समाहित हो जाता है। जीवन में कर्त्तव्य–पालन के सिवाय यदि और कुछ भी ध्यान में न रखा जाय तब भी स्वस्थ एवं तीव्र प्रगति में कहीं भी कोई अवरोध पैदा नहीं होगा।

इस संसार में दो शक्तियों का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। यह संघर्ष है अच्छाइयों का और बुराइयों का–सद् का और असद् का। यह संघर्ष अपने आप नहीं चलता। इसे मुख्यतः मानव जीवन ही चलाता है। किसी भी जीवन में इन दोनों शक्तियों का आमना–सामना होता रहता है और पग–पग पर इस चेतना की जरूरत होती है कि वह किस शक्ति का योग ले और किस शक्ति का विरोध करे। इस दृष्टि से कि जीवन का साध्य किसी भी समय आंखों से ओझल न हो। यही कर्त्तव्य का मूल है।

तीर्थंकर और वीतराग देवों, महापुरुषों और महात्माओं ने जो अपने जीवन में सर्वोच्च आत्म–विकास सम्पादित किया, वह साध्य–साधना की एकरूपता तथा कर्त्तव्य–पालन की सक्रियता से ही सम्भव हुआ। आत्म विकास के उच्चतम शिखर पर पहुंच कर ही उन्होंने अपने अनुभव, चिन्तन तथा ध्यान का निचोड़ इस संसार को दिया है कि निःशंक और निर्भय होकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहो– जीवन में कोई भी सिद्धि असम्भव अथवा असाध्य नहीं रहेगी। संक्षेप में सोचें तो यही उनका सम्पूर्ण मार्ग–दर्शन है।

वस्तुतः आज का मनुष्य भी यदि आंखें खोल कर देखे तो प्रकाश की

कमी नहीं है। अंधेरा भी बहुत है लेकिन प्रकाश की किरणें उससे भी अधिक व्यापक और तेजस्वी हैं। बुनियादी बात यह है कि अंधेरे को ही आंखों में भर कर वह निष्क्रिय बैठा न रहे। बाहर कितना ही प्रकाश हो पर कोई अपनी आंखें ही न खोले तो उसे प्रकाश दीखेगा कहां और मिलेगा कैसे ? वीरता और धीरता यही है कि जीवन में आखें और कान खुले रखे जायं तथा हाथ और पांव मुक्त एवं क्रियाशील। फिर दुनिया में कोई ताकत नहीं, जो जीवन की प्रगति को अवरूद्ध कर सके।

परिभाषा, स्वरूप एवं व्यापकता

कर्त्तव्य–पालन की बात पर जब इतना बल दिया जा रहा है तो मन में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि कर्त्तव्य किसे कहें ? कर्त्तव्य का अर्थ होता है करने लायक अथवा करणीय। सामान्य ज्ञान के साथ कोई सोचेगा तो वह यही कहेगा कि यह तो बड़ी अस्पष्ट बात है। करने के लायक क्या–क्या होता है–यह हर कोई कैसे जान ले ?

प्रश्न अनुचित नहीं है। किसी सामान्य बात को समझने के लिए भी आखिर कुछ समझ तो जगानी ही पड़ती है। विचार शक्ति प्रत्येक मानव में होती है– आवश्यकता होती है कि उसे उपयोग में लें। करने लायक क्या होता है–इस पर महान् विभूतियों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है किन्तु उसे ग्रहण करने के लिये भी आत्म–विचारणा की तो जरूरत पड़ती ही है। इसे इस उदाहरण से समझें कि रात्रि काल में जैसे आप एक सड़क पर चल रहे हैं। उस पर सड़क की बत्तियों की पूरी रोशनी है। सड़क को देखने से कोई दिक्कत नहीं है। तब चलते समय क्या कभी आपने सोचा है कि करने लायक क्या होता है ? सोचा हो या न सोचा हो–पर करने लायक आप करते रहते हैं। वह होता है सड़क को देखकर चलना, कहीं गढे में पैर न गिर जाय या किसी ढूहे से पैर टकरा न जाय। अभिप्राय यह है कि कहीं गिरे या टकरावे नहीं तथा सही चाल से चलते रहें।

ऐसा सामान्य विवेक ही प्रतिक्षण किसी भी मानव को उसका कर्त्तव्य सुझाता रहता है। हां, अगर सड़क की बत्तियां बुझी हुई हों तो ठीक चाल से चलने के लिए विशेष दृष्टि, सूक्ष्म ध्यान तथा गहरे ज्ञान की जरूरत होगी। प्रकाश हो और प्रकाश को देखते रहें तो समस्या सरल बनी रहती है।

वीतराग देवों ने अपने ऐसे सदुपदेशों का ऐसा प्रकाश फैला रखा है जिसे यदि जीवन में सदा संजोए रखें तो कर्त्तव्य पथ पर गतिशीलता बनी रहती

है। अतः इस विषय पर सोचें कि अपने कर्त्तव्य का निर्धारण कैसे करें ? कर्त्तव्य क्या है, यह जान चुके हैं और यह भी कि कर्त्तव्य का निर्धारण करने वाला कौन होता है। अपने कर्त्तव्य का निर्धारण मानव को स्वयं ही करना होता है। हां, वह चारों ओर के प्रकाश को आत्मसात् करके वैसा निर्धारण करे। यह देखना है कि ऐसा निर्धारण कैसे किया जाय।

कर्त्तव्य की परिभाषा का इतना व्यापक क्षेत्र और गहन स्वरूप होता है कि इसका सम्यक् निर्धारण ही उसकी प्रमुख बात होती है।

कर्त्तव्य निर्धारण की प्रक्रिया

यह आप सब लोगों के अनुभव में आता होगा कि आधारगत रूप से कर्त्तव्य–निर्धारण की शक्ति विद्यमान हो तो यथावसर कर्त्तव्य का निर्धारण कठिन नहीं होता है। इसे दो प्रकार से देखें– सिद्धांत एवं व्यवहार की दृष्टि से।

सिद्धांत रूप से पहले यह जाना जाय कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किन–किन के प्रति मानव के क्या–क्या कर्त्तव्य होते हैं ? यह जानना कठिन नहीं है। सन्तों के संसर्ग में आवें, स्वाध्याय करें तथा धर्म के विभिन्न पहलुओं पर निरन्तर चिन्तन–मनन करें तो अपना कर्त्तव्य–बोध पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। यों यहां यह भी समझ लें कि धर्म और कर्त्तव्य एक ही बात होती है। कर्त्तव्य होता है वही धर्म है। धारण किया जाय वह धर्म और तदनुसार किया जाय वह कर्त्तव्य। धर्म के जो मूल सिद्धांत हैं, उन्हें ही कर्त्तव्यों के विविध प्रकारों में लिया जा सकता है। कर्त्तव्यों के निर्धारण की सैद्धांतिक प्रक्रिया के बारे में जो चर्चा की जा रही है, उसका अर्थ यह है कि जो धर्म के आचरणीय सिद्धांत वीतराग देवों ने बताये हैं, उन्हें ही करणीय कर्त्तव्यों के रूप में मान्य कर सकते हैं। और ऐसा ही करना चाहिए।

अब निर्धारण की व्यावहारिक प्रक्रिया को समझ लीजिए। सड़क पर जब बत्तियों की रोशनी हो तो चलते समय जिस प्रकार एक–एक कदम पर कर्त्तव्य का निर्धारण करना होता है कि किस प्रकार स्वस्थ चाल से चला जाय, उसी प्रकार इस जीवन के विशाल पथ पर भी एक–एक पग आगे बढ़ाते हुए पथ की अवस्था एवं चारों ओर की वातावरणगत परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ही कर्त्तव्य का निर्धारण करना होता है कि क्या करने से चाल स्वस्थ बनी रह सकेगी और गति रुकेगी नहीं। चाहे सांसारिक कार्यों के क्षेत्र हों या आध्यात्मिकता का क्षेत्र वस्तुतः कर्त्तव्य–निर्धारण की प्रक्रिया को स्वयं के ज्ञान और अनुभव पर ही चलानी होती है।

कर्त्तव्य पालन : अनवरत एवं अनपेक्षितता

जिस–जिस परिस्थिति में जो–जो कर्त्तव्य आत्म प्रेरणा से निर्धारित किये जावे, उनका पालन अनवरत एवं अनपेक्षित रूप से किया जाना चाहिए और जो वीतराग देवों की उपदेश धारा से निर्धारित कर्त्तव्य हैं, उन्हें तो भली–भांति जान बूझकर क्रियान्वित करते चले जाना चाहिए। अनवरत पालन का अर्थ है कि कर्त्तव्य पालन के प्रति एक–सी निष्ठा और स्फूर्ति बनी रहनी चाहिए ताकि पालन की अक्षुण्णता अटूट रहे। क्योंकि कर्त्तव्य–पालन ऐसा कार्य है कि थोड़ी सी भी चूक कर जायं या आलस्य आ जाय तो कभी–कभी कर्त्तव्य–पालन की पूरी प्रक्रिया व्यर्थ हो जाती है अथवा जो कुछ उससे प्राप्य होता है, वह नष्ट–भ्रष्ट हो जाता है। इसी कारण कर्त्तव्य–पालन की सततता या अनवरतता पर विशेष बल दिया जाता है।

ऐसा ही कर्त्तव्य–पालन का दूसरा तत्त्व है अनपेक्षितता। कर्त्तव्यों का पालन बिना किसी अथवा किसी की अपेक्षा से किया जाना चाहिए। उसे स्वतः स्फूर्त ही बनाये रखना चाहिए। अपना साध्य अपने सामने होता है फिर साधन का प्रयोग करते समय किसी की अपेक्षा क्यों हो ? इसलिये ऐसा विचार छोड़ो कि दूसरे क्या करते हैं और क्या नहीं करते हैं। जो कुछ तुम्हारे अच्छे कर्त्तव्य हैं उन्हें अकेले ही करना पड़े तो किये चलो। दूसरों के बारे में तनिक भी न सोचो कि वह करेगा या नहीं।

किसी भी प्रकार की अपेक्षा या किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा रखे बिना कर्त्तव्यों का निर्वाह बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। ऐसी प्रवृत्ति के प्रतिशोध को कोई स्थान नहीं मिलता। दूसरे ने ऐसा किया है तो मैं भी उसका बदला लूं अथवा दूसरे ने ऐसा नहीं किया है तो उसका भी में ऐसा क्यों करूं– ऐसा विचार अनपेक्षित कर्त्तव्य–पालन की स्थिति में उत्पन्न नहीं होता है। दूसरा कुछ भी करे या न करे– मुझे तो मेरे कर्त्तव्य का पालन करना ही है यही निष्ठा बनी रहनी चाहिये। इसे ही सच्ची कर्त्तव्य–निष्ठा कहते हैं।

कर्त्तव्यों की विविधता

जीवन के विशाल क्षेत्र में विभिन्न कर्त्तव्य होते हैं तथा एक–एक कर्त्तव्य के विविध प्रकार।

निजात्मा के प्रति कर्त्तव्य की बाद में चर्चा करें। पहले परिवार के प्रति कर्त्तव्य को देखें। जिस परिवार में आप जन्म लेते हैं, उस परिवार के

पारम्परिक संस्कार आपको मिलते हैं तथा माता–पिता सहित सभी पारिवारिक सदस्यों की स्नेहपूर्ण सम्भाल भी सहज ही प्राप्त होती है। इतना ही नहीं, बड़े होने पर भी जब कोई विपत्ति आपको घेरती है या संकट सामने आता है तो माता–पिता एवं अन्य परिवारजन आपको सहयोग देने के लिए तत्पर रहते हैं। तो पारिवारिक ऋण के प्रति आप के भी तो कर्त्तव्य होते हैं कि आप भी अपने सामर्थ्यकाल में माता–पिता एवं परिवारजनों की कठिन से कठिन सेवा के लिए सदा तैयार रहें।

इसी प्रकार मानव का अपने ग्राम, नगर एवं राष्ट्र के प्रति भी कर्त्तव्य होता है, क्योंकि कहा है–'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'। माता और मातृभूमि को समान स्थान दिया गया है। मातृभूमि को भी मां का ही रूप माना जाता है। इसीलिये भारत माता कहा जाता है। जिस मिट्टी में यह जीवन बनता, पनपता और ढलता है, उस मिट्टी वाली धरती का परम उपकार होता है। अतः जब भी उस पर संकट आवे, उस राष्ट्रजन का कर्त्तव्य बनता है कि वह अपना सर्वस्व न्यौछावर करके भी अपनी मातृभूमि के सम्मान की रक्षा करे।

मानवता के नाते मानव का कर्त्तव्य सकल विश्व और विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति भी बनता है। सभी मानवों एवं प्राणियों के साथ उसकी आत्मीय समानता का नाता होता है और उससे बंधुता का नाता बनता है। वह बन्धु ही क्या जो अपने बन्धु के काम न आ सके ? पारस्परिक सहयोग पर जब बन्धुता आधारित होती है तो वही व्यक्तियों एवं राष्ट्रों के बीच में सहयोग, सुख एवं शान्ति के सेतुओं का निर्माण करती है।

सबसे महान् और दायित्वपूर्ण कर्त्तव्य होता है निजात्मा के प्रति। सारी सैद्धांतिकता और दार्शनिकता का सार यह है कि अपनी आत्मा को सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त बनाने का एकल साध्य सदा सामने रहे और इस दिशा में पुरुषार्थ प्रयोग का क्रम कभी भी नहीं टूटे। जब स्व की मुक्ति ध्यान में रहेगी तो पर की मुक्ति भी ध्यान में रहेगी। स्व की बंधन मुक्ति के प्रति जो कर्त्तव्य ~, उसी से आत्म धर्म की निरूपणा है। आत्म धर्म यह है कि आत्म स्वरूप की ।द्धता। को विषय कषायों के नाना प्रकार के विकार नष्ट करते हैं और इसके मददगार बनते हैं अनियंत्रित मन तथा लोलुप इन्द्रियों के विश्रृंखल कार्य। इस कारण मन को आमानुशासन में स्थिर बनाकर इन्द्रियों की वासनाओं को जीतें एवं विकारों को नष्ट करते जावें यह निजात्मा के प्रति कर्त्तव्य है जो सभी के

प्रति सभी प्रकार के कर्त्तव्यों का मूल होता है। अपनी आत्मा बन्धन मुक्त हो तथा अन्य आत्माओं को बन्धन मुक्ति की प्रेरणा दें–इसे सर्वोच्च कर्त्तव्य मानकर चलना चाहिए।

स्वतः स्फूर्त हो-कर्त्तव्य-निष्ठा

भावनात्मक रूप से मन मस्तिष्क का निर्माण इस रूप में हो अथवा किया जाय कि कर्त्तव्य–निष्ठा स्वतः स्फूर्त बने तथा बनी रहे। कर्त्तव्य–पालन की आत्म प्रेरणा ही उस प्रकार की सुदृढ़ता को जन्म देती है जो कभी टूटती नहीं, थकती नहीं। अपनी आत्मा जब तक कर्त्तव्य के प्रति एकाकार होकर जुड़ती नहीं तब तक उसका पालन अडिग नहीं बन सकता है।

ऐसे अडिग कर्त्तव्य–पालन की एक इंगलिश गाथा बड़ी प्रेरणास्पद है। यह एक बालक केसाबियांका की गाथा है। इसके पिता एक जलयान कप्तान थे। उसे हमेशा यह सिखाया गया था कि बड़ों की आज्ञा का पालन करना चाहिये। यह संस्कार बालक के मन में गहराई से जम गया था। एक बार पिता उसे भी अपने साथ जहाज की यात्रा पर ले गये। उन्होंने उसे जहाज के एक कोने पर खड़े रहकर चौकसी करने की आज्ञा दी और यह भी कहा कि वह उनके आदेश के बिना वहां से हटे नहीं। तब वे जहाज की दूसरी तरफ चले गये। दुर्भाग्य से उस तरफ जहाज में आग लग गई और उसमें उस के पिता जल मरे। फिर वह आग जहाज के उस भाग की ओर फैलने लगी जहां केसाबियांका अपने पिता की आज्ञा पालन में खड़ा हुआ था। दूसरे लोगों ने समझाया कि वह वहां से हट जाय, किन्तु पिता की आज्ञा के बिना उसने ऐसा करने से मना कर दिया। वह चिल्ला चिल्लाकर पिता से हटने की आज्ञा मांगता रहा, किन्तु हटा नहीं और आग में जल कर बहादुर की मौत मर गया। आज्ञा पालन की अडिगता का आदर्श ऐसा ही होता है क्योंकि यह स्फूर्त होता है।

ये कुछ साधारण कर्त्तव्य हैं जिनके पालन के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान रहना चाहिये। वृद्ध एवं रुग्ण माता–पिता की विशेष सेवा करना, असहाय अपाहिज गरीबों की यथाशक्ति सेवा करना, अपने आश्रित नौकरों पर स्नेह भाव रखना और उन पर अन्याय अत्याचार नहीं करना, सब जीवों के साथ मैत्री भाव रखना, आर्थिक दृष्टि से कमजोर रुग्ण व्यक्तियों को औषधि व चिकित्सा सुविधाएं सुलभ कराना, कैदियों में स्नेह सौहार्द्रता बढ़ाने, उनकी अपराध वृत्ति मिटाने तथा उनके जीवन में सुधार लाने की प्रेरणा भरने के

प्रयास करना आदि। इसी प्रकार से कई कर्त्तव्य होते हैं जिनके पालन के प्रति प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति की अडिग निष्ठा होनी चाहिए।

अपनी अन्तरात्मा को वीतराग प्रणीत धर्म की साधना से इस प्रकार जगाइये कि आप सच्चा कर्त्तव्य बोध लेकर अपने कर्त्तव्यों का अटूट निष्ठा से पालन कर सकें।
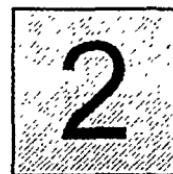
प्रामाणिकता के मानदंड

वीतराग देवों का कथन है कि 'तं सच्चं खु भगवं'—सत्य ही वास्तव में भगवान है। सत्य के पूर्ण रूप का साक्षात्कार हो जाय, तब यह समझा जा सकता है कि आत्म स्वरूप का भी सम्पूर्ण विकास संप्राप्त हो चुका है। सत्य की पूर्णता से ही आत्मा परमात्मा का स्वरूप ग्रहण करती है।

यह सत्य क्यों होता है ? जो जैसा है उसे वैसा ही समझो वैसा ही कहो और वैसा ही करो– यह सत्य का आचरण है। मन विचार करता है, वचन बोलता है और काया कार्य करती है, तो इस रूप में मन, वचन एवं काया के योग व्यापार की एकरूपता में सत्य का निवास होता है। यही एकरूपता निश्छल सरलता को प्रकट करती है।

सत्य सज्जन के लिए सरल होता है, किन्तु दुर्जन के लिए असह्य–इसीलिए कहा जाता है कि हर कोई नंगे सत्य को सहन नहीं कर सकता है। तब यह नीति की सूक्ति बनी कि सत्य बोलो, पर प्रियकारी भी बोलो–सत्यं ब्रूयात, प्रियं ब्रूयात। फिर भी सत्य को छिपाना नहीं चाहिए और उसे तोड़–मरोड़ कर भी नहीं बताना चाहिये।

आत्म–विकास की यात्रा के लिए तो सत्याचरण का विशष्टि महत्त्व होता ही है। लेकिन सांसारिक व्यवहार में भी सत्य का प्रभाव कम नहीं होता है। वहां भी सत्याचरण से ही प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा होती है। जो प्रामाणिक माना जाता है, उसके साथ लोग विश्वासपूर्वक आंख मीच कर व्यवहार करते हैं और अप्रामाणिक व्यक्ति के साथ व्यवहार में हर कोई पूरी तरह चौकन्ना रहता है क्योंकि वहां पर विश्वास का अभाव होता है।

कथनी और करनी अर्थात् वाणी और कर्म में जब एकरूपता की बात की जाती है तो उसका गूढ़ार्थ सत्याचरण में ही निहित होता है।

मन, वचन, कर्म की प्रमाणिकता

मन की गतिविधि बाहर वाले व्यक्तियों से अज्ञात रहती है और जब तक उस पर सही तरीके से नियंत्रण करने का अभ्यास न बना हो, तब तक वह नहीं जानी जाती। उसकी गति भी बहुत चंचल है, जिसको पकड़ना भी बड़ा कठिन है। ऐसा अनिग्रहित मन अपने विचार प्रवाह में अति अस्थिर होता है। इस कारण मन की ऐसी चंचलता अज्ञात रहती है। किन्तु विचारों के अस्थिरतापूर्ण मंथन के बाद में अधिकतर कुछ निश्चयात्मक तन्तु कम या ज्यादा सभी को पकड़ने होते हैं, क्योकि यदि अस्थिरता बनी ही रहे तो किसी प्रकार के क्रियाकलाप की सम्भावना ही नहीं रहती। अतः विचारों के प्रवाह में जब व्यक्ति किसी भी प्रकार के निश्चयात्मक बिन्दु पर पहुंच जाता है तब वह उसे बाहर की दुनिया में प्रकट करता है। उसका यह प्रकटीकरण वाणी के माध्यम से ही होता है अतः इसे लोक भाषा में 'कथनी' कहा जाता है। कथनी के बाद 'करनी' का क्रम चलता है। जो कुछ कहा गया है, उसके अनुरुप ही कार्य हो। यह होती है कथनी और करनी की एकरूपता, जिसका मूल्यांकन विचारों की दुनिया से अलग बाहर की दुनिया में किया जाता है।

कथनी और करनी का मूल्यांकन जितना एकरूप होता है, उतना ही वह प्रामाणिक एवं विश्वास के योग्य माना जाता है। इसके विपरीत इन दोनों की एकरूपता में जितनी खामी दिखाई देती है या विद्रूपता प्रतीत होती है, उतना ही वह व्यक्ति अप्रामाणिक तथा विश्वास के अयोग्य माना जाता है। आप जानते हैं कि समुचित प्रामाणिकता के अभाव में एक झूठा आदमी कहां-कहां किस-किस तरह की ठोकरें खाता फिरता है और लांछलाएं भुगतता है। किन्तु एक सत्यवादी व्यक्ति कठिन कष्टों को सहन करने के बावजूद अपनी अटूट प्रामाणिकता तथा अपरिमित विश्वसनीयता से सर्वप्रिय एवं संसार द्वारा समादृत होता है।

अध्यात्म की आंतरिक दृष्टि के अनुसार मन का सविशेष महत्त्व होता है किन्तु सांसारिक दृष्टि से अप्रत्यक्ष रूप में उसकी थाह ही ली जा सकती है। अतः संसार में वाणी और कर्म को ही प्रमुख माना है क्योंकि मन का समावेश बाह्य रूप से इन दोनों में हो जाता है। अतः कथनी और करनी की एकरूपता को ही संसार में प्रामाणिकता का मानदण्ड माना जाता है।

विषय कषायों की मालिमाएँ

सत्य का जो प्रारम्भिक स्वरूप होता है उसे सम्यवत्त्व कहा जाता है। सम्यक् का अर्थ होता है—समीचीन या सही। इस दृष्टि से सत्य सम्यक्त्व होता है तो असत्य मिथ्यात्व। जितना जो सम्यक होता है और उसका जो अनुपालन किया जाता है वह सत्य की आराधना होती है। जितना जो मिथ्या होता है और विवेकहीनता से जो उसके पीछे चला जाता है उससे सत्य की विराधना होती है। जिस जीवन से सत्य का सम्बन्ध छिन्न—भिन्न होता है, वह जीवन पतन की ओर ही गिरता है।

सब कुछ जानते समझते हुए भी मानव मिथ्यात्व या असत्य के चक्रव्यूह में क्यों फंसता है ? ऐसा होता है विषय—कषायों के दुष्प्रभाव से। ये विषय—कषाय की वृत्तियां कैसी होती हैं जो उसे सत्य और सम्यक्त्व से पथभ्रष्ट बनाती हैं ? विषय काम वासनाओं के प्रति मोहावेश का नाम है। काम की व्याख्या की गई कि मोह के उदय से परास्त होकर जीवात्माएं शब्द, रस, रूप, गंध और स्पर्श की जिस आसक्ति कामना या उपभोग की इच्छा से व्यग्र बनती हैं, वह काम है। काम, वैचारिक और मैथुनिक दोनों प्रकार का होता है। इसी प्रकार कषाय वह वृत्ति कहलाती है जो आत्मा और शरीर को कषती है। यह क्रोध, मान, माया व लोभ रूप होती है। अधिकांशतः मान की प्रतिक्रिया क्रोध में तथा लोभ की प्रतिक्रिया माया में पनपती है। यों इन चारों कषायों की प्रतिक्रियाएं कई भिन्न भिन्न रूपों में परिलक्षित होती हैं। क्रोध से अभिभूत व्यक्ति कभी भी सुख नही पाता है और स्व—पर दाहक क्रोधाग्नि में जलता रहता है। अभिमानी व्यक्ति सदा शोकपरायण और चिन्तातुर रहता है क्योंकि वह या तो मदमस्त रहता है या प्रतिशोध से आहत। मदमस्त रहते हुए उसे अहं की चिन्ता खाती रहती है। माया की वक्रता में लिपटा हुआ मनुष्य दूसरों का दास होता है क्योंकि वह कपट, प्रतारणा, वंचना, दंभ कुटिलता, दुराव और छिपाव की वृत्तियों के चक्रव्यूह में उलझा हुआ रहता है। लोभी नर अर्थपरायण होते हैं। उनकी इच्छाएं आकाश के समान अनन्त होती हैं तथा कैसे भी आवे पर उनकी धन लिप्सा हमेशा जोर पकड़े हुए रहती हैं। इस प्रकार विषय और कषाय के भावो मे डूबी हुई जीवात्माएं प्रतिक्षण विकारों की अशुद्धता से मलीन होती रहती हैं और काले कर्मों को बांधते हुए मुक्ति से दूर होती चली जाती हैं।

यह संक्षिप्त विश्लेषण इस कारण किया गया कि प्रत्येक व्यक्ति आत्म निरीक्षण कर सके और अपने जीवन मे फैले विषय—कषाय के विकारों की

कालिख का अनुमान लगा सके। जितना अधिक वह अपने जीवन में विषय कषाय के दुष्प्रभाव को महसूस कर सकेगा, उतनी ही अधिक वह अपने वर्तमान जीवन की छबि जान सकेगा कि कितनी असत्य की कालिख है और कितना सत्य का सुहावना रंग ? इसी से प्रेरणा मिलेगी कि सत्य का अधिक तत्परता के साथ अनुसरण किया जाय। जीवन में जितना असत्य बढ़ेगा उतना ही विकारों में डूबा आत्म–भाव कलंकित होता रहेगा।

कथनी और करनी की विद्रूपता

जीवन में वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों पर विषय कषायों का दुष्प्रभाव जितना गहरा होगा उतना ही कथनी और करनी का वैचित्र्य भयावह बनता चला जायेगा। विकारों से रंगा हुआ मानव सम्यक्त्व भाव को शून्य बना देता है और मिथ्यात्व में सुख का झूठा आभास लेता हुआ अन्ततः परम दुःख–कुंड में गिर जाता है।

एक व्यक्ति की कथनी और करनी की विद्रूपता केवल उसे ही अप्रामाणिक और कष्टित ही नहीं बनाती बल्कि अपने आस–पास के सारे वातावरण में भी वह उस विद्रूपता की दुर्गन्ध फैला देती है। दूसरा कोई भी जब उसके व्यवहार–चक्र में आता है तो उसका कुफल उसे भुगतना पड़ता है। कल्पना करें कि आपके पास कोई विवादग्रस्त दो पक्ष अपना न्याय कराने के लिये आवें। आपके सामने उस समय दो मार्ग रहते हैं। या तो आप सत्य का अनुसरण करते हुए जो पक्ष दोषी प्रतीत हो उसे परास्त करके दूसरे पक्ष को न्याय दें। इस प्रकार की वृत्ति के साथ निःस्वार्थ न्याय प्रियता तथा साहसपूर्ण सदाशयता की आवश्यकता होती है। किन्तु जब आपके मन मस्तिष्क पर विषय कषाय तथा स्वार्थो का दुष्प्रभाव मुखर हो रहा हो तो आपकी वृत्ति दूसरे ही प्रकार की हो जायेगी। उसके अनुसार आप दोनों पक्षों को अलग–अलग सही बताते हुए उभारेंगे और अपने निर्णय को भी सत्य व न्याय पर आधारित न रखकर छल व स्वार्थ पूर्ति पर टिकावेंगे। तब आप सत्य को तोड़ मरोड़ कर मायावी रूप देंगे और असल में असत्य का ही पक्ष लेंगे।

व्यवहार की इस द्विमुखी (दोगली) प्रवृत्ति के अनुसार ही शायद यह कहावत बनी है कि वह जो चोर को कहे कि तू चोरी कर तथा घरधणी को कहे कि तू चोर का खयाल रखना–दोगला होता है। लेकिन आप बखूबी जानते हैं कि चाहे आपका व्यापार व्यवसाय हो या अन्य किसी भी प्रकार का व्यवहार आपको इस द्विमुखी प्रवृत्ति का ही करीब–करीब सर्वत्र परिचय मिलता

हैं। आज तो इस कारण अप्रामाणिकता और अविश्वसनीयता सीमाओ को लांघ गई है। जैसे आज की दुनिया में भ्रष्टाचार को शिष्टाचार माना जाने लगा है वैसे ही असत्य को भी व्यवहार का अनिवार्य अंग मान लिया गया है। लोग अक्सर कह देते हैं कि धंधे में धर्म का क्या काम ? इस धारणा के पीछे कई बार यह दोषपूर्ण विश्वास भी काम करता है कि धर्म से परलोक सुधरेगा। पर इस लोक में तो जैसे भी बने, धन कमाना ही मुख्य बात है। धर्म को इह लोक में उपयोगी कम माना जाता है– जो भ्रान्त धारणा है।

ऐसे ही कारणों से क्या तो व्यक्ति के जीवन में और क्या राष्ट्रों के व्यवहार में कथनी और करनी की विद्रूपता अत्यन्त घातक एवं चारित्र्य विनाशक रूप लेती जा रही है।

प्रामाणिकता के गिरते स्तर

व्यक्तिगत व समूहगत स्तरों पर वर्तमान युग में असत्य का कितना प्रचलन बढ़ गया है इसका थर्मामीटर आज की राजनीति और उसकी आड में चलाई जा रही कूटनीति तथा झूठनीति को बनाकर वास्तविकता का अंकन किया जा सकता है।

आज के राजनेताओं के विभिन्न विषयों पर दिये गये भाषणों–वक्तव्यों आश्वासनों मन्तव्यों तथा क्रिया–कलापों के स्वरूप का अगर कोई बारीक अध्ययन करे तो कथनी और करनी की अप्रामाणिकता तथा अविश्सनीयता के बारे में दिलचस्प तथ्य व आंकड़े एकत्रित किये जा सकते हैं। जिससे यह नक्शा साफ हो सकता है कि किसी बात पर एक बयान दिया जाता है, दूसरे ही दिन उसका अलग ही मंतव्य निकाला जाता है और तीसरे दिन असल तथ्य किसी और ही रूप में प्रकट होता है। शासन के प्रतिनिधि जहां भी जायेंगे, लोगों को तत्काल खुश करने के लिये उनकी शिकायतें इकट्ठी कर लेंगे, समस्याओं की सुलझनें बता देंगे और आश्वासनों की झड़ी बरसा देंगे, किन्तु वहां से लौटकर सब कुछ भूल जायेंगे। जनता के जिस मतदान से चुनाव जीतकर शासन की बागडोर ये लोग सम्हालते हैं या कि राजनीति के क्षेत्र में काम करते हैं, वे यह याद नहीं रखते कि उन्होंने मतदाताओं से क्या वादे किये थे और अपने या दलीय स्वार्थों के लिये सत्य का होम कर देते हैं।

राजनीति और प्रशासन के सम्पूर्ण तन्त्र में आज जिस दिखावा निजता

दिया गया है तथा प्रामाणिकता व विश्वसनीयता की अन्त्येष्टि कर दी गई है। आज की राजनीति शायद उस वेश्या की तरह बना दी गई है जिसमें कुशील इतना फैल गया हो कि शील का अंश तक न बचे।

इस प्रदूषित राजनीति ने आज सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र में विकारों का भयंकर प्रदूषण फैला दिया है जिससे सब ओर अधःपतन का अंधकार गहराता जा रहा है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में असत्य का इस कदर बोलबाला हो रहा है कि वास्तव में जो सत्याचरण तथा नैतिकता वाला होता है उसे कदम–कदम पर ठोकरें खानी पड़ती हैं और नाकामयाबी का मुंह देखना होता है। सत्य और प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कथनी और करनी की आज की दुरावस्था चिन्तनीय ही नहीं दयनीय भी है।

अप्रामाणिक जीवन भी कोई जीवन है ?

एक अप्रामाणिक से अप्रामाणिक व्यक्ति भी जरा दो पल की आत्मालोचना के साथ विचार करे तो उसे भी महसूस होगा कि अप्रामाणिक जीवन भी भला कोई जीवन है ? एक अप्रामाणिक व्यक्ति एक बार यह सोच ले कि जैसी अप्रामाणिकता वह दूसरों के साथ दिखा रहा है, वैसी अप्रामाणिकता यदि दूसरा उसके साथ दिखावे तो उसे कैसा महसूस होगा–तो शायद है वह अपनी अप्रमाणिकता को छोड़ने का संकल्प ले ले। वास्तव में उन राजनेताओं से पूछा जाय तो सत्ता के गलियारों से निकलकर सड़क की सतह पर आ गये हैं कि आप अपने पिछले अप्रामाणिक एवं कथनी–करनी के खाई जितने अन्तर वाले जीवन को आज किस रूप में महसूस करते हैं तो निश्चय ही उनका उत्तर पश्चात्ताप से भरा हुआ होगा। किन्तु असल बात यह है कि आज जो सत्ता की कुर्सियों पर बैठे हैं, उन्हें सारे अप्रामाणिक एवं अविश्वसनीय वातावरण पर गहरा विचार करना चाहिये तथा उसे अपने स्वस्थ आचरण से बदल डालने की प्रतिज्ञा लेनी चाहिये।

ध्यान रखिये कि कथनी और करनी की एकरूपता से सत्य सम्यक्त्व और सद का विकास होगा तथा असत्य, मिथ्यात्व और असद् से नाता टूटेगा। ऐसा होने पर ही चाहे व्यक्ति हो या वर्ग, समाज हो या राष्ट्र उसकी प्रामाणिकता तथा विश्वसनीयता की प्रतिष्ठा स्थापित होगी।

क्रान्ति कीजिए सत्य की दिशा में

यदि आप अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते हैं तो असत्य के

विरुद्ध क्रांति कीजियें ताकि सबके चरण सत्य की दिशा में अग्रसर बनें। यह क्रांति ही नहीं, उत्क्रांति होगी।

इस सत्य को आप हृदयंगम कर लीजिये कि जितना आप कर सकते हो उतना ही करो और जितना जो कुछ कहो उसे पूर्ण करके दिखाओ। यही सच्ची ईमानदारी होगी तथा कथनी और करनी की प्रेरणास्पद एकरूपता। इसी के आधार पर एक सदगृहस्थ अपनी पारिवारिकता को सद्‌गुणों से अलंकृत करता है तो एक साधु भी सत्य का सच्चा अन्वेषक बनकर अपनी विकासशील आत्मा को मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर बनाता है।

कर्त्तव्यों के घेरे में

संसार में व्यक्तियों की तीन प्रकार की श्रेणियां होती हैं। पहली श्रेणी उन व्यक्तियों की, जो अपने कर्त्तव्यों का भी ध्यान नहीं रखते हैं तथा कर्त्तव्यहीन, निकृष्ट जीवन जीते हैं। वे व्यक्ति दूसरी श्रेणी के कहलायेंगे जो अपने कर्त्तव्यों के प्रति पूरी सजगता रखते हैं एवं यथायोग्य, यथास्थान अपना करने लायक करना नहीं चूकते हैं। सर्वोच्च श्रेणी के वे विशिष्ट व्यक्ति होते हैं जो अपने कर्त्तव्यों से भी ऊपर उठकर आत्म बलिदान और त्याग के नये कीर्तिमान स्थापित करते हैं। कहने का आशय यह है कि कर्त्तव्यों का पालन करना मानवता का सामान्य गुण कहा जायगा, जिसका अभाव एक व्यक्ति को सामान्य मानवीय स्तर से नीचे ही गिराता है।

सच कहेंगे तो यथोचित कर्त्तव्यों का अनवरत एवं अनपेक्षित पालन नहीं करने से स्वयं उस व्यक्ति का मानस असन्तुलित बनता है और उस का व्यवस्था क्रम टूटता है तो सामाजिक जीवन में भी एक प्रकार की विश्रृंखला का उदय होता है जिसके कुप्रभाव से अनेकानेक सदस्य असुरक्षा एवं अव्यवस्था का अनुभव करते हैं। इस कारण कर्त्तव्यहीनता को बुरी नजर से देखते हैं और है भी यह वास्तव में बुरी ही, क्योंकि अगर एक के बाद एक व्यक्ति कर्त्तव्यहीन होते चले जाय तो सोचिये की पारस्परिक व्यवहार एवं सामाजिक जीवन में किस तेजी से अस्त–व्यस्तता आती हुई चली जायेगी। इस दृष्टि से अपने–अपने कर्त्तव्यों का पालन भी प्रत्येक व्यक्ति का एक आवश्यक कर्त्तव्य माना जाना चाहिये।

इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिये कि सभी माता–पिताओं को अपनी सन्तान के प्रति तथा सन्तानों को अपने माता–पिताओं के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन पूरी निष्ठा के साथ करना चाहिये क्योंकि कर्त्तव्यनिष्ठा की ऐसी

परम्परा जब क्रमिक रूप में आगे से आगे चलती रहती है तो उस समाज व राष्ट्र का व्यवस्था क्रम सुव्यवस्थित रूप से ही नही चलता, अपितु वहां उन्नति की उत्कृष्ट ऊंचाइयां भी परिलक्षित होती है।

घेरे की व्यापकता और विशालता

माता–पिताओं और सन्तानों के कर्त्तव्य का घेरा वास्तव में बहुत व्यापक और विशाल होता है– इतना कि इस घेरे में सम्पूर्ण प्राणी जगत का समावेश हो जाता है। कोई सन्तान ऐसी नहीं हो सकती है जिसके माता–पिता (माता–पिता की जल्दी मृत्यु हो गई हो तो अभिभावक या संरक्षक) नहीं हो और वह संतान भी आवश्यक आयु में पहुंच कर माता–पिता बनती है। यही क्रम है जो चलता रहता है और इसी को संसार कहते हैं–संसरति इति संसारः।

तो इस घेरे में सम्पूर्ण मानव जाति का वर्तमान ही नहीं अतीत और भविष्य भी आ जाता है। इस कारण कर्त्तव्यों के इस घेरे के बारे में एक बार ही गंभीर विचार करके न रह जायं बल्कि समय–समय पर इन कर्त्तव्यों की पालन–स्थिति की समीक्षा भी की जाती रहनी चाहिये। इससे इस कर्त्तव्य श्रृंखला का समुचित रीति से विकास होता रहेगा।

इस कर्त्तव्य–श्रृंखला का व्यक्तिगत रूप तो होता ही है, किन्तु व्यापक और विशाल घेरे के कारण इसका समूहगत स्वरूप विशेष महत्त्वपूर्ण बन जाता है। इन कर्त्तव्यों की सम्पन्नता अथवा हीनता का प्रभाव व्यक्ति तक ही नहीं रुकता बल्कि बड़े से बडे समूह तक फैलता जाता है। इससे इन कर्त्तव्यों के गुण–दोषों का अंकन भी तत्परता से होना चाहिये तथा आवश्यक संशोधन भी उतनी ही तत्परता से किया जाना चाहिये। तभी सामाजिक व्यवस्था–क्रम को अक्षुण्ण बनाये रखा जा सकता है। आज के माता–पिता भी पहले संतानं के रूप में थे और आज की संतान भी आगे जाकर माता–पिता बनेगी। इस प्रकार सभी को इन दोनों अवस्थाओं के अनुभव लेने होते हैं। अतः दोनों पक्षों के कर्त्तव्यों की सभी को यथा समय जानकारी होनी चाहिए और दोनों प्रकार के कर्त्तव्यों की पारस्परिक सम्बद्धता का आभास भी होना चाहिये। ऐसी मानसिकता के साथ ही कर्त्तव्य–पालन की निष्ठा क्रियाशील बन सकती है एवं सुदृढ़ता का वरण कर सकती है।

यो मानिये कि इस प्रकार की कर्त्तव्यनिष्ठा को आधार बनाकर किसी भी समाज अथवा राष्ट्र के भावनात्मक नव निर्माण का महद् कार्य सहज ही

में सम्पन्न किया जा सकता है।

माता-पिता के कर्त्तव्य और संस्कारदान

माता–पिताओं के लिये पुत्र अथवा पुत्र रूप सन्तान को जन्म देकर उसे सुसंस्कारी न बनाना घोरं नैतिक अपराध है। उनका परम कर्त्तव्य है कि वे अपनी संतान का शरीर–पोषण ही नहीं, आत्मिक सद्‌गुणों के पोषण, संवर्धन एवं संरक्षण के अपने दायित्व को भी पूरी गंभीरता से लें। इस दिशा में उनकी सतर्कता से व्यापक एवं प्रारम्भिक हित का शुभ वातावरण बनता है।

सन्तान का उत्पन्न होना एक प्रकार से अधिकांश में प्रकृति जन्म कार्य होता है, लेकिन उत्पन्न सन्तान को सुसंस्कारी बनाना पूर्ण रूप से माता–पिता का दायित्व बन जाता है। एक गीली गुंथी हुई मिट्टी के रूप में बालक की चेतना गर्भ में और जन्म के बाद वह सब कुछ लेने के लिये उत्सुक रहती है जो कुछ उसकी ग्रहणेच्छुक इन्द्रियों के समक्ष आता है। उन्हीं गृहित एवं संग्रहित मनोभावों की पृष्ठभूमि पर बालक के चारित्र्य का आकार बनता है याने कि वह गीली गुंथी हुई मिट्टी माता–पिता रूप कुंभकार के चाक–चालन से रूप ग्रहण करती है और साकार होती है। जैसे यदि कुंभकार सिद्धहस्त और कलाकार हो तो वह उस गीली मिट्टी से ऐसी अनूठी कला के नमूने बना सकता है जिन्हें देख–परख कर सारा संसार दांतों तले अंगुली दबा ले। कुंभकार अगर सामान्य कला का अभ्यासी ही है तो उसके उत्पादन भी सामान्य ही होंगे। किन्तु समाज के लिये खतरनाक स्थिति तो तब बनती है जब कलाहीन कुंभकार की तरह माता–पिता स्वयं चरित्रहीन और दुर्जन होते हैं। ऐसे माता–पिताओं की सन्तान उनके दुष्चरित्र को देख देख कर ही राक्षसों और दैत्यों की मूर्तियों बन जाती हैं क्योंकि उनको वैसा ही संस्कार दान प्राप्त है।

मूल में देखें तो माता–पिता की मुख्य जिम्मेदारी होती है संस्कार–दान की जिम्मेदारी–जिन संस्कारों को उनकी सन्तान उनसे गर्भ से लेकर जन्म के बाद कम से कम शिशुकाल में एकल उत्सुकता से ग्रहण करती है। अतः माता–पिता का यह पावन कर्त्तव्य बनता है कि उनका यह संस्कारदान उनकी संतान के चहुंमुखी विकास का आधार हो। यही नई पीढ़ी के नव–निर्माण की जिम्मेदारी होती है जिसका सम्यक् प्रकार से निर्वहन किये बिना माता–पिता भले शरीरदाता कहला जायं मगर वास्तविकता में माता–पिता नहीं होते हैं। सुसंस्कारदाता माता–पिता ही वास्तविक रूप से माता–पिता कहलाने के अधिकारी होते हैं।

माता–पिता सुसंस्कारदान की अपना सुयोग्यता अन्यत्र कहीं से नहीं, मात्रा अपने कर्त्तव्यनिष्ठ जीवन तथा शुद्ध आचरण के बल पर ही प्राप्त कर सकते हैं। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जब तक माता–पिता का स्वयं का जीवन उत्कृष्ट चारित्र्य की रीति–नीति से ढला हुआ नहीं होगा, उनमें सुसंस्कार दान की योग्यता भी उत्पन्न नहीं हो सकेगी। दूसरे शब्दों में यह सामाजिक चेतावनी दी जा सकती है कि जो अपने जीवन का निर्माण स्वयं एवं सद्गुणात्मक रीति से नहीं कर सकते हों या नहीं कर पाये हों, उन्हें माता–पिता बनने का कोई नैतिक अधिकार नहीं होना चाहिए। अपनी सन्तान का शरीर पोषण तो कुत्ते, कौए और बिल्ली जैसे प्राणी भी करते ही हैं, फिर मनुष्य जैसे विशिष्ट प्राणी की क्या विशेषता होगी जब वह भी इतना सा ही काम कर सके ? यथार्थ में माता–पिता को अपनी सन्तान का जीवन आत्मिक सद्गुणों से परिपूर्ण बनाकर ही अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री माननी चाहिये। यही नहीं उन संस्कारित सद्गुणों के निरन्तर पोषण, संवर्धन तथा संरक्षण की तरफ भी उनका ध्यान लगा रहना चाहिये।

सन्तान के संस्कार और कर्त्तव्य

माता–पिता का पालन पोषण करने के रूप में तथा मुख्य रूप से सुसंस्कार दान के रूप में अपनी सन्तान पर असीम उपकार होता है। इस उपकार का बदला चुकाना सहज काम नहीं है। धर्म–मार्ग पर आरूढ होने वाली तथा अपने माता–पिता को धर्म–मार्ग पर आरूढ़ रखने वाली सन्तान ही अपने माता–पिता के उपकारों से उऋण हो सकती है। सन्तान का सामान्य कर्त्तव्य है कि वे अपने माता–पिता की तन, मन, धन और जीवन से सेवा सुश्रुषा करें।

सन्तान अपने माता–पिता की तभी उपयुक्त रीति से सेवा सुश्रुषा कर सकती है जब उसने उनसे सुसंस्कारों को ग्रहण करके अपना जीवन चारित्र्यशील एवं कर्त्तव्यनिष्ठ बनाया हो। यह संस्कार–दान पर आधारित है तो उतना ही संस्कार–ग्रहण पर भी आधारित है। संस्कार–ग्रहण का कार्य भी बालक की प्रतिभा के अनुसार होता है जो सब बालकों में एक समान नहीं होती। कभी–कभी किन्हीं प्रकार के प्रभाव अधिक प्रबल सिद्ध हो जाते हैं कि संस्कार–ग्रहण की दिशा ही बदल जाती है। हां, सामान्य रूप से प्रारम्भिक संस्कार ग्रहण का कार्य हकीकत में संस्कार–दान के अनुसार ही होता है जब तक कि बालक माता की गोद से निकलकर बाहर की दुनिया को नहीं देखता है। घर से बाहर निकलने पर तो कई प्रकार के प्रभाव बालक की जीवन–रचना

पर अपनी छाप छोड़ते हुए चले जाते हैं। अतः आवश्यक है कि बालक व
में माता–पिता की समुचित सेवा करने का अनुभव पहले शिक्षा के क्षेत्रामें
बाद में कार्य के क्षेत्र में भी पुष्ट बनाया जाना चाहिये। समाज व सरकार के
नियम कानून भी होने चाहिये जिनके अनुसार सन्तान कम से कम वृद्धावस
चल रहे अपने माता–पिता की आवश्यक सेवा करने के हित में तो प्रेरित ही
रहे।

वास्तव में सुसंस्कारी तथा कर्त्तव्यशील माता–पिता का उपकार अ
ही होता है जिसके लिए कहावत है कि सन्तान अपने शरीर की चमड़ी के
बनवा कर उन्हें पहिनावे तब भी वह उपकार पूरा नहीं होता है। क्यं
माता–पिता शरीर भी देते हैं तो उनसे भी बढ़कर विकासशील आत्मा के उ
उत्थान का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इस हेतु ही यह कथन किया गया है
जो सन्तान अपने माता–पिता की अन्तिम अवस्था में भरपूर धर्म सेवा कर ले
है, वह अपने मातृ–पितृ ऋण से मुक्त हो सकती है। यह उसका सामा
कर्त्तव्य कहा जायगा।

दो पीढ़ियों में समन्वय

जीवन अपनी शाश्वतता के साथ सतत परिवर्तनशील भी होता है और
कहा जाता है कि उस परिवर्तन का स्पष्ट प्रभाव एक से दूसरी पीढ़ी में देखा
जा सकता है। यह प्रकृति का प्रभाव भी माना गया है कि प्रत्येक नई पीढ़ी
अपनी पुरानी पीढ़ी के प्रति वैचारिक दृष्टि से विद्रोह का भाव रखती है।
इसका अर्थ यह है कि नई पीढ़ी अपनी बदली हुई धारणाओं के अनुसार नये
मूल्यों एवं नई जीवन शैली की रचना करना चाहती है। जब उसके इस भाव
का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निरादर और तिरस्कार किया जाता है तो वह पीढ़ी
सभी प्रकार के विरोधों पर उतर आती है।

अतः दो पीढ़ियों के बीच जीवन शैली के यथावत् अनुसरण पर अधिक
बल नहीं दिया जाना चाहिए, बल्कि नई पीढ़ी के चिन्तन को समझकर उसकी
भावनाओं का वर्तमान जीवन शैली में समावेश एवं विकास करना चाहिये
जिससे एक समन्वयात्मक जीवन शैली का सृजन होता रहे और विद्रोह की
मुद्राएं न बनें और न तनें। कारण, विद्रोह में रचनात्मक तत्त्व उभरते हैं तो
संहारात्मक तत्त्व भी–जिससे समाज का सम्पूर्ण हित नहीं सधता है। समन्वय
से दोनों प्रकार की जीवन शैलियों के श्रेष्ठ तत्त्वों की रक्षा की जा सकती है
तथा काल क्रम में पनपती हुई विकृतियों से उसे मुक्त रखा जा सकता है।

समन्वयात्मक मनोवृत्ति का सबसे बडा लाभ यह होगा कि दोनों पीढ़ियो की जीवन-शैलियो के शान्त भाव से साधे गये मेल के कारण कर्त्तव्यनिष्ठा की परम्परा का निर्माण और निर्वाह भली भांति हो सकेगा। एक पीढ़ी की कर्त्तव्यनिष्ठा जब सुसंस्कार का स्वरूप ग्रहण करके दूसरी पीढ़ी के मन-मष्तिक में बस जाती है तो उस पीढी की कर्त्तव्यनिष्ठा भी सुदृढ़ हो जाती है। जब यही सुदृढता आगे की पीढियों में ढलती जाती है तो उसी से कर्त्तव्यनिष्ठा की परम्परा का जन्म होता है। परम्परा की पकड इतनी मजबूत होती है कि वह स्पष्ट समझ न रखने वाले व्यक्तियों को भी तदनुसार अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए प्रेरित बनाये रखती है। इसे परम्परा की प्रामाविकता कहते हैं।

परम्परा की प्रामाविकता का लाभ सभी को सभी क्षेत्रें में मिलता है। कर्त्तव्यनिष्ठा की श्रेष्ठ परम्परा में ढला हुआ व्यक्ति अपने सभी प्रकार के कर्त्तव्यों के पालन के प्रति सजग होता है। परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के प्रति कर्त्तव्यो का उसे सही ज्ञान भी होता है तो उनकी सम्पूर्ति का कार्यकारी उत्साह भी। ऐसी कर्त्तव्यनिष्ठा जिस जीवन में समाती है, वह जीवन सार्थक हो जाता है। और जब ऐसी कर्त्तव्यनिष्ठा परम्परा बन कर कई पीढियों को अपने अंक में समेट लेती है तब तो वैसी परम्परा वाले समाज और राष्ट्र धन्य हो जाते हैं।

मानवीय मूल्यों की निरन्तरता

जब तक कर्त्तव्यनिष्ठा की परम्परा एवं सुसंस्कारित सदाशयों की बहुसंख्या से वर्ग, समाज और राष्ट्र अलंकृत न हों, तब तक यह आशा फलवती नही हो सकती है कि मानवीय मूल्यो की निरन्तरता बन जाय-उनकी स्थापना सुस्थिर हो जाय। क्योकि सामान्य रूप से होता यह है कि युगों के बदलते हुए स्वरूपों में कभी तो मानवीय मूल्यो के प्रति स्वस्थ आस्था बनती है और उनका निष्ठापूर्वक अनुसरण होता है लेकिन कभी वह समय भी आता है जब व्यक्ति और समूह अपनी स्वार्थपूर्ति तथा हिंसक उपायो पर उतर आते हैं जिससे मानवीय मूल्य क्षतिग्रस्त ही नही होते बल्कि कई बार छिन्न-भिन्न भी हो जाते है। इस कारण मानव मूल्यो की निरन्तरता नही बन पाती है और निरन्तरता नही बनने से किसी भी वर्ग, समाज या राष्ट्र की प्रगतिशीलता भी तदनुसार प्रभावित होती रहती है।

चारित्रशीलता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा की सन्तति वर्गों, राष्ट्र तथा विश्व की प्रगति तथा आत्मोत्थान की विकास की परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे, इसके लिए

यह एक ही उपाय पर्याप्त सिद्ध हो सकता है कि माता–पिता एवं सन्तान
कर्त्तव्यों का घेरा सुरक्षित एवं संरक्षित बना लिया जाय। दोनों संबंधों
परम्परा में ढली और सुस्थिर बनी कर्त्तव्यनिष्ठा सम्पूर्ण संसार को सदा के
कर्त्तव्यनिष्ठ एवं उन्नतिशील बना सकती है, क्योंकि कर्त्तव्यनिष्ठा और उ
का अभिन्न सम्बन्ध होता है।

स्वाध्याय

卐 कोरे व्यावहारिक ज्ञान से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। आत्मा के ज्ञान के लिये आध्यात्मिक ज्ञान अपेक्षित है।

卐 जिसकी बदौलत सदा के लिए सुख मिल सकता है उस धर्म के अध्ययन में जरा भी उत्साह न होना कितने बड़े दुर्भाग्य की बात है !

卐 हम ऐसी जगह खड़े हैं जहां से दो मार्ग फटते हैं, हम जिधर चाहें उधर जा सकते हैं। एक संसार का मार्ग है, दूसरा मुक्ति का, एक बन्धन का, दूसरा स्वाधीनता का। स्वाध्याय हमें दिशा देता है कि संसार और बन्धन के मार्ग पर नहीं मुक्ति और स्वाधीनता के मार्ग पर चलो।

1

स्वाध्यायः साधन से साध्य तक

तीर्थंकर देवों की तरणतारिणी वाणी का एक अमृत वाक्य है–" पढमं नाणं तओ दया– अर्थात् पहले ज्ञान और बाद में क्रिया। यों कहा गया है कि ज्ञान और क्रिया दोनों से मुक्ति की प्राप्ति सम्भव होती है। किन्तु इस वाक्य में दोनों का क्रमोल्लेख है। प्रश्न उठता है पहले ज्ञान क्यों ? सीधा सा उत्तर है–पहले जानेंगे तभी तो तदनुसार क्रिया कर सकेंगे। हर क्रिया सप्रयोजन होती है और प्रयोजन के पूर्व निर्णय किये बिना क्रिया कैसे की जा सकेगी ? कोई यह मानता हो कि किसी भी सिद्धि की कारणभूत क्रिया की ही एकमात्र आराधना की जाय तो वह विवेकपूर्ण मान्यता नहीं है। क्योंकि क्रिया और क्रिया के फल में अन्तर होता है। क्रिया, सिद्धि तक पहुंचाने का माध्यम है, वही सब कुछ नहीं है। मंजिल और मार्ग में जैसे अन्तर होता है वैसे ही क्रिया और सिद्धि में अन्तर है। इसलिए क्रिया करने से पूर्व क्रिया क्यों की जाय ? इस बात का निर्णय किया जाना आवश्यक है।

ज्ञान और क्रिया की अन्योन्याश्रितता होती है। ज्ञान का प्रकाश पहले होगा तभी क्रिया का चरण आगे बढ़ सकेगा। ज्ञानहीन क्रिया को त्याज्य बताया गया तो, क्रियाहीन ज्ञान को भी विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। ज्ञान के अभाव में क्रिया अन्धी होती है तो क्रिया के अभाव में ज्ञान लंगड़ा, किन्तु यदि अन्धे और लंगड़े मिल जाय तो दोनों मिलकर अपनी मंजिल तक आसानी से पहुंच सकते हैं।

कि क्रिया का आचरण एक रूढ़ि के समान हो जाता है और वह महत्त्वहीन बन जाता है। आप कौन सी क्रिया किस उद्देश्य से कर रहे हैं –यह ज्ञान आवश्यक है। बल्कि यह ज्ञान पहले आवश्यक है कि किस उद्देश्य के लिये कौन सी क्रिया की जानी चाहिए। ज्ञान के महत्त्व को कम करके कभी नहीं चलना चाहिए। उदाहरण के लिए समझिये कि आपने सामायिक की क्रिया की यथाविधि लेने व पालने की पाटियां गिन ली और बीच के समय में जैसे साधारण रूप से करते हैं इधर उधर की बातचीत या और कुछ, वह कर लिया। आपने सोच लिया कि सामायिक पूरी हो गई। क्या वस्तुतः वह सामायिक हुई ? यह सोचने की बात है। क्रिया विधि के अनुसार तो वह सामायिक हुई किन्तु ज्ञान पक्ष की दृष्टि से उसे पूर्ण सामायिक नहीं कह सकेंगे। समझपूर्वक यदि समता भाव की विचारणा नहीं की गई अथवा जीवन में समता भाव का अभ्यास नहीं किया गया तो मानना पड़ेगा कि सामायिक का प्रयोजन अधूरा रहा है। इसलिये क्रिया के पहले ज्ञान आवश्यक है।

इसी ज्ञान की साधना के लिये स्वाध्याय का प्रतिपादन किया गया है।

चिंतन–शक्ति का उद्‌भव और विकास

आप जहां तक सुयोग मिलता है, सन्त मुनियों के प्रवचन–व्याख्यान सुनते हैं और उस श्रवण से आत्मोत्थानकारी सिद्धांतों का परिचय पाते हैं। यह एक स्वाभाविक बात है कि किसी भी सुने हुए विषय पर जब तक स्वयं अध्ययन, चिन्तन और मनन बाद में न करें तब तक उस विषय का विस्तृत ज्ञान भी नहीं होता तथा उसका गूढ़ार्थ भी स्पष्ट नहीं होता। कई बार तो सुनी हुई बात स्मृति से भी निकल जाती है। यही बात पठन–पाठन के सम्बन्ध में भी लागू होती है। कोई विषय शास्त्र–ग्रंथ से पढ़ लिया किन्तु यदि उसका सूक्ष्म अध्ययन नहीं कर पाए तो शास्त्र का मर्म आत्मसात् नहीं हो पाता। श्रवण और पठन के पश्चात् सम्बन्धित विषय के गहन अध्ययन की अपेक्षा रहती है।

चिन्तन–मनन सहित इस गहन अध्ययन को स्वाध्याय कह सकते हैं जिसका अर्थ किया जाय– स्वयं का अध्ययन। जो भी सुनें या पढ़ें, उस पर अपना दिमाग चलावें तथा उसकी मौलिकता को समझें–यह स्वाध्याय है। कितना भी श्रेष्ठ कथन क्यों न हो–यदि उसे अपनी मस्तिष्क प्रणाली से गुजार कर स्वीकार नहीं किया तो वह विषय न तो वैचारिकता में स्थायी स्थान ले सकेगा और न ही वह आस्था का बिन्दु ही बन सकेगा। इस का कारण यह है कि स्मृति और श्रद्धा में वही विषय गहरा जमता है जिस पर स्वयं का

अध्ययन और चिन्तन-मनन किया गया हो।

स्वाध्याय की प्रणाली ही ज्ञान-साधना की पुष्ट पृष्ठभूमि होती है। स्वयं अध्ययन कर के जो ज्ञान ग्रहण और सम्पादन किया जाता है, वह सुबोध भी होता है तो स्मृतिगम्य भी। इतना ही नहीं, स्वाध्याय की नियमितता से मौलिकता की खोज होती है और चिन्तन की नई दिशाएं मिलती हैं। नियमित चिन्तन ही श्रेष्ठ जीवन की सुरक्षा का सम्बल होता है क्योंकि इसी धरातल से आत्मावलोकन तथा आत्मालोचन की पद्धति का विकास होता है।

स्वाध्याय का पहला फल चिन्तन शक्ति के उद्‌भव एवं विकास के रूप मे मिलता है। यह चिन्तन शक्ति जितनी सबल होती है, समझिये कि जीवन शैली उतनी ही शुद्ध और विकार रहित बनती है। चिन्तन, ज्ञान का दूरबीन होता है जो तत्त्वों व सिद्धांतो की सूक्ष्मता को हृदयंगम कराता है। स्वाध्याय याने स्वयं के अध्ययन के माध्यम से ज्ञान साधना करके तो देखिए कि ज्ञान का प्रकाश अन्तरात्मा को किस प्रकार आलोकित कर देता है।

गहरे उतरें फिर पहिचानें

स्वाध्याय का एक और अर्थ भी समझ लीजिए जो अन्तःकरण को स्पर्श करने के कारण मार्मिक भी है। सोचिये कि 'स्व' का अध्याय क्या होता है ? पहली बात तो यह कि यह 'स्व' ही क्या है ? आप को कोई पूछे कि आप कौन है तो बताइये कि आप क्या उत्तर देंगे ? यही कि मैं अमुक (नाम) हूं और अमुक स्थान (निवास) पर रहता हूं। क्या आपका इतना ही परिचय है ? यह आपका नाम और धाम तो अस्थायी हैं। क्या आप अपनी स्थायी परिचय नहीं जानते ? यह भी आपको स्वाध्याय से ही ज्ञात होगा।

'स्व' आप स्वयं होते हैं और आप सबसे पहले आत्म-स्वरूपी हैं-चेतना युक्त आत्मा हैं जो सदा-सदा काल के लिये रहेंगे तथा आप सत्‌चिदानन्द घनमय चेतन हैं। आप अखण्ड हैं, अनंत हैं, निर्मल हैं, निराकार हैं, निरामय हैं। और बाकी जो कुछ है वह सब बाद में अर्थात् आपका नाम, धाम आदि सब बाद में। ये सब इस शरीर के साथ जुड़े हुए हैं। आत्मा के असली विस्तृत स्वरूप का अवगमन कराता है स्वाध्याय। समझिये कि स्वाध्याय 'स्व' का पूरा अध्याय खोल देता है और ज्यों-ज्यों स्वाध्याय की गति सूक्ष्मतर होती जाती है; त्यों-त्यों इस विस्तृत अध्याय के पृष्ठ आगे से आगे पलटते चले जाते हैं। नये-नये ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति एवं नये-नये तत्त्वों की अनुभूति के साथ वे आगे से आगे पलटते हुए पृष्ठ, यदि स्वाध्याय की गहराई में डूबते रहें तो नये -

नये अनजाने रहस्यो का उद्घाटन करते हैं। जो 'स्व' का अध्याय एक बार खोल लेता है, वह उस अध्याय में अवश्य ही तल्लीन हो जाता है। 'स्व' के ज्ञान का कौन अभिलाषी नहीं होता ? हां, यह जरूर है कि किसी भी प्रेरणा से एक बार उसकी यह अभिलाषा जाग जानी चाहिये। ऐसी अभिलापा जाग जाने के बाद ही स्वाध्याय की विशिष्ट महत्ता प्रतीत होती है।

स्वाध्याय महत्ता पर जितना कहा जाय उतना कम है किन्तु दरअसल, यह आचरण का ही विषय है कि आप स्वाध्याय की पद्धति को अपनावें, उसे नियमित बनावें तथा गहरे उतर कर 'स्व' के अध्याय को खोलें।

अध्यात्म का मर्मस्थल

कोरे व्यावहारिक ज्ञान से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। आत्मा के ज्ञान के लिए आध्यात्मिक ज्ञान अपेक्षित होता है।

व्यावहारिक ज्ञान क्या होता है ? आप संसार में रहते हुए संसार का व्यवहार चलाने के लिए जो जानकारी लेते हैं, उसे व्यावहारिक ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। ये जो कला, वाणिज्य, विज्ञान आदि के विषयों की पढ़ाई है या कि डाक्टरी, इंजीनियरिंग आदि की डिग्रियां हैं यह सब व्यावहारिक ज्ञान के अन्तर्गत आती हैं। व्यावहारिक ज्ञान का प्रधान उद्देश्य जीविकोपार्जन माना जाता है। इस ज्ञान का अभ्यास करके आप लोग संसार के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत होते हैं तथा नाना प्रकार के व्यवसाय एवं उद्योग धंधे चलाये जाते हैं। सम्बन्धित विषय में अधिक ज्ञानार्जन की सुविधा भी रहती है तथा उनसे मानव कल्याण के कई कार्य भी सम्पादित किये जा सकते हैं। फिर भी इस ज्ञान का अन्तिम उद्देश्य धन कमाना ही होता है। अतः कोरा व्यावहारिक ज्ञान 'स्व' का शुभ कल्याण करने का सामर्थ्य नहीं रखता है।

'स्व' का शुभ कल्याण आत्मा को सन्मुख रखने से ही सम्भव बनता है। जो आत्मा को अधि–सन्मुख बनावे, वह अध्यात्म है और इससे संबंधित ज्ञान को आध्यात्मिक ज्ञान कहा जाता है। यह आध्यात्मिक ज्ञान ही आत्म स्वरूप की पहिचान कराता है तथा उसके कर्मावरणों को दूर हटाकर उसे परम विशुद्ध बनाने के पुरुषार्थ का आह्वान करता है। स्वाध्याय आध्यात्मिक ज्ञान का मर्म स्थल होता है।

सुन्दर संगम

कोरा व्यावहारिक ज्ञान आत्म बोध को प्रेरित नहीं करता, किन्तु इस व्यावहारिक ज्ञान को आध्यात्मिक ज्ञान का पुट मिले और उससे उसमें नैतिकता का संचार हो जाय तो वह ज्ञान भी जब क्रियान्वित होगा तो उसके

प्रभाव से सांसारिकता के व्यवहार में भी नीति एवं न्याय का प्रवेश होगा और उससे सांसारिक व्यवहार के क्षेत्र में भी मानव प्रेम के माध्यम से आत्म बोध की दिशा को बल मिल सकेगा। एक तथ्य स्पष्ट है कि जो लोग सांसारिक जीवन में रह रहे हैं और राग को त्यागकर विराग में विचरण करने में अपने आप को समर्थ नहीं मानते हैं, उन्हे यों मानिये कि संसार में रहना है और संसार में रहना है तो व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना भी जीविकोपार्जन के लिए अनिवार्य है। फिर क्या वे नीति व न्याय से विहीन जीवन ही जिएं ? नहीं, ऐसा नहीं होना चाहिए और इस दिशा में प्रयास किये जाने चाहिए कि व्यावहारिक ज्ञान के साथ–साथ विद्यार्थियों को नैतिक व धार्मिक शिक्षण भी दिया जाय जिससे उन्हें प्रारम्भ से आध्यात्मिक ज्ञान का बोध भी हो सके। ऐसी अवस्था में विद्यार्थी अपने व्यावहारिक जीवन में विनम्र सहृदय तथा सहयोगी बन सकेंगे। उस दशा में संसार का सामान्य व्यवहार भी सुखप्रद बन सकेगा और उससे आत्म कल्याण की वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों को भी पूरा प्रोत्साहन मिल सकेगा।

जब तक विस्तृत रूप से दोनों प्रकार के शिक्षण की संयुक्त व्यवस्था का सन्तोषजनक रीति से श्रीगणेश न हो सके, तब तक व्यक्तिगत एवं वर्गगत स्तर पर स्वाध्याय की प्रणाली का अवलम्बन लिया जाना चाहिये। यह समय चाहे अल्प ही हो किन्तु नियमित अभ्यास होगा तो स्वाध्याय के प्रभाव से व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान का सुन्दर संगम बैठ सकेगा।

स्वाध्याय की नियमितता क्यों ?

'स्व' के अध्याय का यह कोई एकाध बार का प्रयोग नहीं होता, यह एक लम्बी प्रक्रिया होती है जिसका विचार एवं विवेकपूर्वक निर्वाह करना आवश्यक है। आप अपने व्यावहारिक ज्ञान के संदर्भ में ही इस प्रक्रिया को समझिये। सोचें, आप अपने पुत्र को एक डाक्टर बनाना चाहते हैं तो आपको उसे कितने अर्से तक पढ़ाना और कितना लम्बा धीरज रखना पड़ता है। वर्णमाला से प्रारम्भ होकर मेडिकल डिग्री को प्राप्त करने में कितना समय लग जाता है ? कोई 19–20 वर्ष। इतने लम्बे समय तक जब आपका पुत्र लगातार उत्तीर्ण होता चला जावे तब कहीं जाकर डॉक्टरी डिग्री प्राप्त होती है। डॉक्टरी की डिग्री ले लेने के बाद भी एकदम हाथ साफ नहीं हो जाता है या कुशलता प्राप्त नहीं हो जाती है। उसके लिए भी अभ्यास के लम्बे समय की जरूरत होती है तथा ख्याति प्राप्त करने के लिये और भी ज्यादा समय चाहिये।

जब किसी व्यावहारिक ज्ञान एवं उसकी कुशल क्रियान्विति के लिये भी इतना समय चाहिये कि उम्र से कम आधी जिन्दगी लग जाती है तो फिर

नये अनजाने रहस्यो का उद्‌घाटन करते हैं। जो 'स्व' का अध्याय एक बार खोल लेता है, वह उस अध्याय में अवश्य ही तल्लीन हो जाता है। 'स्व' के ज्ञान का कौन अभिलाषी नहीं होता ? हां, यह जरूर है कि किसी भी प्रेरणा से एक बार उसकी यह अभिलाषा जाग जानी चाहिये। ऐसी अभिलाषा जाग जाने के बाद ही स्वाध्याय की विशिष्ट महत्ता प्रतीत होती है।

स्वाध्याय महत्ता पर जितना कहा जाय उतना कम है किन्तु दरअसल, यह आचरण का ही विषय है कि आप स्वाध्याय की पद्धति को अपनावें, उसे नियमित बनावें तथा गहरे उतर कर 'स्व' के अध्याय को खोलें।

अध्यात्म का मर्मस्थल

कोरे व्यावहारिक ज्ञान से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। आत्मा के ज्ञान के लिए आध्यात्मिक ज्ञान अपेक्षित होता है।

व्यावहारिक ज्ञान क्या होता है ? आप संसार में रहते हुए संसार का व्यवहार चलाने के लिए जो जानकारी लेते हैं, उसे व्यावहारिक ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। ये जो कला, वाणिज्य, विज्ञान आदि के विषयों की पढ़ाई है या कि डाक्टरी, इंजीनियरिंग आदि की डिग्रियां हैं यह सब व्यावहारिक ज्ञान के अन्तर्गत आती हैं। व्यावहारिक ज्ञान का प्रधान उद्देश्य जीविकोपार्जन माना जाता है। इस ज्ञान का अभ्यास करके आप लोग संसार के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत होते हैं तथा नाना प्रकार के व्यवसाय एवं उद्योग धंधे चलाये जाते हैं। सम्बन्धित विषय में अधिक ज्ञानार्जन की सुविधा भी रहती है तथा उनसे मानव कल्याण के कई कार्य भी सम्पादित किये जा सकते हैं। फिर भी इस ज्ञान का अन्तिम उद्देश्य धन कमाना ही होता है। अतः कोरा व्यावहारिक ज्ञान 'स्व' का शुभ कल्याण करने का सामर्थ्य नहीं रखता है।

'स्व' का शुभ कल्याण आत्मा को सन्मुख रखने से ही सम्भव बनता है। जो आत्मा को अधि–सन्मुख बनावे, वह अध्यात्म है और इससे संबंधित ज्ञान को आध्यात्मिक ज्ञान कहा जाता है। यह आध्यात्मिक ज्ञान ही आत्म स्वरूप की पहिचान कराता है तथा उसके कर्मावरणों को दूर हटाकर उसे परम विशुद्ध बनाने के पुरुषार्थ का आह्वान करता है। स्वाध्याय आध्यात्मिक ज्ञान का मर्म स्थल होता है।

सुन्दर संगम

कोरा व्यावहारिक ज्ञान आत्म बोध को प्रेरित नहीं करता, किन्तु इस व्यावहारिक ज्ञान को आध्यात्मिक ज्ञान का पुट मिले और उससे उसमें नैतिकता का संचार हो जाय तो वह ज्ञान भी जब क्रियान्वित होगा तो उसके

प्रभाव से सांसारिकता के व्यवहार में भी नीति एवं न्याय का प्रवेश होगा और उससे सांसारिक व्यवहार के क्षेत्र में भी मानव प्रेम के माध्यम से आत्म बोध की दिशा को बल मिल सकेगा। एक तथ्य स्पष्ट है कि जो लोग सांसारिक जीवन में रह रहे हैं और राग को त्यागकर विराग में विचरण करने में अपने आप को समर्थ नहीं मानते हैं, उन्हें यों मानिये कि संसार में रहना है और संसार में रहना है तो व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना भी जीविकोपार्जन के लिए अनिवार्य है। फिर क्या वे नीति व न्याय से विहीन जीवन ही जिएं ? नहीं, ऐसा नहीं होना चाहिए और इस दिशा में प्रयास किये जाने चाहिए कि व्यावहारिक ज्ञान के साथ–साथ विद्यार्थियों को नैतिक व धार्मिक शिक्षण भी दिया जाय जिससे उन्हें प्रारम्भ से आध्यात्मिक ज्ञान का बोध भी हो सके। ऐसी अवस्था में विद्यार्थी अपने व्यावहारिक जीवन में विनम्र सहृदय तथा सहयोगी बन सकेंगे। उस दशा में संसार का सामान्य व्यवहार भी सुखप्रद बन सकेगा और उससे आत्म कल्याण की वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों को भी पूरा प्रोत्साहन मिल सकेगा।

जब तक विस्तृत रूप से दोनों प्रकार के शिक्षण की संयुक्त व्यवस्था का सन्तोषजनक रीति से श्रीगणेश न हो सके, तब तक व्यक्तिगत एवं वर्गगत स्तर पर स्वाध्याय की प्रणाली का अवलम्बन लिया जाना चाहिये। यह समय चाहे अल्प ही हो किन्तु नियमित अभ्यास होगा तो स्वाध्याय के प्रभाव से व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान का सुन्दर संगम बैठ सकेगा।

स्वाध्याय की नियमितता क्यों ?

'स्व' के अध्याय का यह कोई एकाध बार का प्रयोग नहीं होता, यह एक लम्बी प्रक्रिया होती है जिसका विचार एवं विवेकपूर्वक निर्वाह करना आवश्यक है। आप अपने व्यावहारिक ज्ञान के संदर्भ में ही इस प्रक्रिया को समझिये। सोचे, आप अपने पुत्र को एक डॉक्टर बनाना चाहते हैं तो आपको उसे कितने अर्से तक पढ़ाना और कितना लम्बा धीरज रखना पड़ता है। वर्णमाला से प्रारम्भ होकर मेडिकल डिग्री को प्राप्त करने में कितना समय लग जाता है ? कोई 19–20 वर्ष। इतने लम्बे समय तब जब आपका पुत्र लगातार उत्तीर्ण होता चला जावे तब कहीं जाकर डॉक्टरी डिग्री प्राप्त होती है। डॉक्टरी की डिग्री ले लेने के बाद में भी एकदम हाथ साफ नहीं हो जाता है या कुशलता प्राप्त नहीं हो जाती है। उसके लिए भी अभ्यास के लम्बे समय की जरूरत होती है तथा ख्याति प्राप्त करने के लिये और भी ज्यादा समय चाहिये।

जब किसी व्यावहारिक ज्ञान एवं उसके कुशल क्रियान्वयन के लिये भी इतना समय चाहिये कि जन्म से लगा आधी [illegible] जिन्दगी लग जाती है तो फिर

'स्व' का अध्याय तो मेडिकल या इंजीनियरिंग के ज्ञान से बहुत अधिक गूढ़ एव विस्तृत होता है बल्कि दोनों प्रकार के ज्ञान की परस्पर कोई तुलना करना ही समीचीन नहीं है तो भला विचारिये की आत्म-ज्ञान की संप्राप्ति एवं उसकी सफल क्रियान्विति के लिये कितने समय की अपेक्षा रहेगी ? यदि आप लोग व्यावहारिक ज्ञान के लिये आधी-पौन जिन्दगी खपा देते हो तो इस गूढ़ आत्म-ज्ञान के लिये तो कई जिन्दगियों की जरूरत रहेगी। किन्तु यह कैसी चिन्तनीय विडम्बना है कि आप आत्म-ज्ञान की गहराइयों में प्रवेश करने के लिये सामान्य समय तक निकालने की चेष्टा नहीं करते हैं।

दिन रात में चौबीस घंटे होते हैं जिनमें आप व्यावहारिक ज्ञान लेते और उसका अभ्यास करते हैं तथा विद्यार्थी जीवन को पार कर लें तब अपने व्यवसाय व व्यापार में धनार्जन हेतु समय लगाते हैं और अपने दैनिक कार्यों से भी निवृत्त होते हैं। प्रारम्भ में सन्त मुनिराज आपसे इतनी ही तो मांगनी करते हैं कि इन चौबीस घंटों में से मात्र एक घंटा अपने आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति एवं अभ्यास के लिये दीजिये। अरे बन्धुओं, चौबीस घंटों में से केवल एक घंटा आत्म-ज्ञान और आत्म-विकास के लिये ? क्या इतना भी नहीं कर सकते हैं आप ? सोचिये और चिन्तन की जरा सी गहराई में डूबकर सोचिये।

आप यह छोटी सी प्रतिज्ञा कर लीजिये कि प्रतिदिन नियमित रूप से निश्चित समय पर स्वाध्याय करने के निमित्त केवल एक घंटा देंगे जो अत्यन्त अल्प समय होगा। फिर भी मेरा विश्वास है कि यदि कोई जिज्ञासु स्वाध्याय की नियमितता को निबाहते हुए कम से कम एक वर्ष भी गुजार ले तो उसे आत्म दर्शन के सौभाग्य का माध्यम मिल सकता है।

नियमित स्वाध्याय से स्वाध्यायी की अन्तरात्मा में ऊर्जा का ऐसा भंडार तैयार होगा, जो ऊर्जा सतत क्रियाशील रहेगी। ऊर्जा की क्रिया-प्रक्रिया से आप परिचित होंगे कि उससे ऐसी शक्ति का उत्पादन होता है जो विविध प्रकार की उपलब्धियों को सहज ही में सुलभ कराती है।

स्वाध्याय से प्राप्त ऊर्जा की शक्ति के फलस्वरूप आध्यात्मिक क्षेत्र में कई सिद्धियां प्राप्त की जा सकती हैं किन्तु सामान्यतया भी ऐसे सद्गुणों का विकास किया जा सकता है जिनकी सहायता से व्यक्ति एवं समाज के जीवन को संवारा जा सके। स्वाध्याय के सुफल उत्थानकारी भी होते हैं तो वे दीर्घजीवी भी बनते हैं। सुसंस्कारों का प्रसार का रहस्य भी स्वाध्याय में समाया हुआ है, यह मानकर चलें।

★

2

धर्म की उपेक्षा का मूल कारण

मनुष्य और पशु जीवन में क्या अन्तर है ? मनुष्य भी भोजन के बिना नहीं जी सकता है और पशु को भी उसका आहार बराबर चाहिए। निद्रा रूप विश्राम की प्रत्येक मनुष्य को आवश्यकता रहती है और पशु भी नींद के बिना नहीं रह सकते। मनुष्य और पशु दोनों भय से भीत होते हैं तथा अपने अपने स्तर पर प्रजनन क्रिया में भी प्रवृत्ति करते है। ये सब मनुष्य और पशु में प्रवृत्तियों की समानताएं हैं, फिर दोनों में अन्तर क्या है ?

प्रश्न पर प्रश्न यह उठता है कि दोनों प्रकार के जीवनों में क्या कोई अन्तर है भी ? वस्तुतः अन्तर है तो बहुत बड़ा और वही अन्तर वाली एक गुणवत्ता मनुष्य जीवन में परिलक्षित न हो तो वास्तव में मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं दिखाई देगा।

मनुष्य और पशु में सामान्य ही नहीं महान् अन्तर प्रदर्शित करने वाली जो एक मात्र गुणवत्ता है, वह है धर्म की गुणवत्ता। पशु जीवन से पृथक् मनुष्य जीवन में बुद्धि और विवेक का सद्भाव होता है जो उसे धर्म में प्रवृत्त कराती है तथा उसकी पाशविक वृत्तियों का शमन करती है। इतना ही नहीं, धर्म की गुणवत्ता से उसके समृद्ध मानवीय मूल्य भी देवत्व की दिशा को लांघकर परमात्म दिशा में अग्रसर बनते है। पशु जीवन के साथ की गई तुलना में धर्माचरण का सामर्थ्य ही मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है। अतः यदि मनुष्य इसी विशेषता को अपने जीवन व्यवहार में प्रखरता के साथ प्रकट न कर सके तो फिर उसे पशुवत् ही तो कहा जाएगा।

अतः यदि मनुष्य जीवन पाकर भी पशु कहलाना हो तो बात अलग है, वरना धर्ममय आचरण को अपनाकर तथा धर्म-साधना में तल्लीन बनकर अपने

जीवन को मानवीय सद्‌गुणों के साथ चमकाइये और आत्म-विकास की यात्रा को सफल बनाइये।

संघर्ष : स्वभाव एवं परभाव में

धर्म क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व यह धारणा स्पष्ट हो जानी चाहिये कि आत्मा और देह में पृथकत्व है। देह उस वस्त्र के समान है जिसके जीर्ण होने पर आत्मा उसे बदल लेती है। देह नश्वरता की प्रतीक होती है तो आत्मा अमरता की। देह भाव अलग होता है तथा आत्म भाव अलग। देह को देह की खुराक देनी होती है तो आत्मा को आत्मा की। देह का पोषण उतने ही अंशों में करना चाहिये, जितने अंशों में वह धर्म की साधिका तथा आत्मा-भाव की सहायिका बनी रह सके। देह मिलती है और छूट जाती है पर आत्म-निरन्तर बनी रहती है। आत्मा अपनी है और देह अपनी नहीं है ठीक उसी तरह, जिस तरह टिकट लेकर रेलगाड़ी में बैठते हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंच जाते हैं, पर वह रेलगाड़ी अपनी नहीं होती है। इसी तरह कर्म बन्ध से जिस देह का टिकट प्राप्त हो जाता है, वह देह आत्मा को अपनानी होती है। इस धारणा का मूल यह है कि आत्म-भाव ही मुख्य होता है, देह भाव नहीं तथा धर्म साधना में देह-मोह को कोई स्थान नहीं दिया जाना चाहिए।

इस स्पष्ट धारणा के साथ ही हमारी आत्म-भाव को समझने की जिज्ञासा उत्पन्न होगी। इस आत्म-भाव को ही स्व + भाव कहते हैं। संसारी आत्मा पूर्णतः स्वभाव में स्थित नहीं होती है बल्कि अधिकतर परभाव में विचरण करती रहती है, क्योंकि जब वह पूर्णतः स्वभाव में स्थित हो जाती है तब वह सिद्ध गति को प्राप्त कर लेती है। आत्मा संसार में भव-भ्रमण कर रही है, यही प्रमाण है कि उसका परभावों में विचरण चालू है।

स्वभाव अर्थात् आत्मा का , स्वयं का भाव, पर भाव अर्थात् जड़ का भाव जो आत्म-भाव से इतर होता है वह पर-भाव कहलाता है। आत्मा चेतना युक्त होती है और जड़ चेतनाहीन निर्जीव। यह देह भी हकीकत में जड़ है किन्तु चूंकि इसमें चेतन आत्मा का निवास है अतः यह सजीव दिखाई देती है। आत्मा से इतर संसार के जितने भी पदार्थ हैं वे सब जड़ स्वरूपी हैं। आत्मा जब स्वस्थ चेतना और ज्ञान में रमण करती है याने कि धर्म साधना में मग्न होती है, तब वह स्वभाव में विचरण करती है और जब वह रूप, रस, गंध, वर्ण और स्पर्श के विषयों में रमण करती है तब वह तदनुरूप जड़ पदार्थों में विचरण करती है। उसका यह विचरण पर भाव में विचरण होता है। जितना

आत्मा का परभाव में विचरण होता है उतना ही वह सांसारिकता में लिप्त होता है तथा जितना वह परभाव से हटकर स्वभाव में रमण करने लगता है, उतना ही वह अपने मूल विशुद्ध स्वरूप के सन्निकट पहुंचता है। पर-भाव अशुद्धता को भड़काता है और स्वभाव विशुद्धता की अवस्था की ओर ले जाता है।

स्वभाव और परभाव का यह संघर्ष प्रत्येक आत्मा की आन्तरिकता में चलता रहता है। जो आत्मा विषय कषायों की मोह मूर्छा में अत्यधिक आसक्त बन जाती है, वह कई बार अपने स्वभाव से विस्मृत भी हो जाती है उसी प्रकार जैसे नशा लेकर मनुष्य अपनी बाह्य चेतना को बिसार देता है। धर्माचरण का जो उपदेश है, उसका यही अभिप्राय रहता है कि आत्मा अपने मूल स्वभाव को याद करे तथा स्वभाव में अधिकाधिक रूप से स्थित होने का संकल्प ले। ऐसे संकल्प के बाद ही धर्माचरण की प्रक्रिया सफलता के साथ आरम्भ की जा सकती है।

सम्पूर्ण धर्माचरण का सार यही है कि मनुष्य अपने आत्म-स्वभाव में स्थित रहने का पुरुषार्थ करे। यह जिस दिन सम्पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेता है, उस दिन आत्मा इस संसार से मुक्त होकर सिद्ध रूप में ज्योति में ज्योति स्वरूप रूप बनकर सदा काल के लिये विराजमान हो जाती है, अतः स्व + भाव में स्थिति से ही धर्म की प्राप्ति होती है।

आत्मा की खुराक है स्वाध्याय

कहा गया है कि जीने के लिए खाना चाहिये और यह प्रयोजन सादे और सात्विक भोजन से पूरा हो सकता है। किन्तु जो आसक्तिपूर्वक भांति-भांति के स्वादिष्ट पकवान तथा गरिष्ट खाने खाये जाते हैं, क्या वह जीवन के लिए खाना होता है ? हकीकत में वह तो खाने के लिए जीना हो जाता है जो पशुत्व का परिचायक है। देह को जो जायकेदार खुराक दी जाती है, उसे मात्र देह का पोषण ही कहा जायगा। इस रूप में आप लोग देह के पोषण के तो हजारों उपाय करते हैं तथा अपना अधिकांश समय, धन व शक्ति इस हेतु लगाते हैं लेकिन क्या कभी आत्मा की खुराक के बारे में भी सोचते हैं ?

यह आप जान चुके हैं कि स्वभाव में स्थित होने के लिए देह भाव की तरफ कम और आत्म-भाव की तरफ अधिक से अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये। देह पोषण कम होगा, तभी आत्म-पोषण का प्रयास बढ़ेगा। आत्म-पोषण का अर्थ है कि आत्मा को उसकी ज्यादा से ज्यादा खुराक दो। अब आप ही तुलनात्मक हिसाब लगाइये कि आप आत्मा और देह को अपनी अपनी कितनी

खुराक देते हैं ?

आत्मा की पूरी खुराक होती है सम्पूर्ण रूप से धर्म की आराधना। किन्तु देह पोषण से आपको आत्म–पोषण पर अपना पूरा ध्यान केन्द्रित कर देने में समय की अपेक्षा रहेगी। इस कारण दिशा बदलने का क्रम तो शुरू कर ही देना चाहिये। कारण गंभीरतापूर्वक सोचेंगे तो शायद आपको प्रतीत होगा कि आपके सारे प्रयास देह पोषण की दिशा में ही चल रहे हैं। आत्म–पोषण की दिशा में उन्हें अभी भी पूरी तरह से मोड़ना बाकी है।

तो प्रश्न है कि दिशा परिवर्तन के लिए आप अपने प्रयासों को किस रूप में मोडें ? यह निर्णय आपको ही अपने सद् विवेक के साथ लेना होगा कि आप अपनी आत्मा को उसकी खुराक वर्तमान में कितनी दे सकते हैं और आगे भविष्य में उसे कितने अंशों में बढ़ाते रहने की अभिलाषा रखते हैं ?

आप जब भी अपना शुभ निर्णय करें, किन्तु मैं आग्रह करना चाहूंगा कि अपनी आत्मा को कुछ न कुछ खुराक देनी तो शुरू कर ही दीजिये। इसकी शुरुआत कीजिये। स्वाध्याय की प्रवृत्ति को अपनाकर यदि आप स्वाध्याय नियमित रूप से करने का व्रत भी ले लें तो समझिये की आत्मा को जीने भर की खुराक मिल जायगी। आत्मा के जीने का अर्थ है कि वह अपने मूल स्वरूप का स्मरण करती रहे। इस स्मरण से वह अपने आप को भूलेगी नहीं और आप भी देह को ही सब कुछ मान कर नहीं चल सकेंगे।

धर्म की उपेक्षा, आत्मा की उपेक्षा

धर्म ही आत्मा का प्राण है क्योंकि धर्म के बिना आत्मा का अस्तित्व शून्य जैसा होता है अतः धर्म की उपेक्षा करने का साफ–साफ मतलब यही निकलेगा कि अपनी ही आत्मा की उपेक्षा की जा रही है।

धर्म क्या होता है–यह आप जान चुके हैं। धर्म साध्य है–स्वभाव है। साध्य जब प्राप्त हो जाता है तो सिद्धि मिल जाती है। इसी धर्म रूप साध्य को प्राप्त करने के जो साधन हैं–वे हैं सत्सिद्धान्त–जिन्हें जीवन में उतारकर अपने स्वभाव को प्राप्त करने का पराक्रम सफल बनाया जा सकता है। धर्म के मार्ग को भगवान् महावीर ने अतीव संक्षेप में बता दिया है। यह है रत्नत्रय, जो धर्म के सशक्त साधन हैं– सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, एवं सम्यक् चारित्र। सम्यक् का अर्थ होता है सही, सच्चा और चिन्तन से निर्णीत किया हुआ सत्य ज्ञान। ऐसे सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र में सम्पूर्ण धर्म मार्ग का समावेश हो जाता है।

रत्नत्रय का सीधा सा अर्थ है–जानो, मानो और करो। बताया जा चुका है कि आप जो भी सुनें या जो भी पढ़ें, उसे स्वाध्याय के माध्यम से जानें। वैसा आप जो जानेंगे, वह आप से जुड़ा हुआ ज्ञान होगा। फिर आप जो जान लें, उसके प्रति शंकाए--आशंकाएं न रखें,– उसे मान लें पूरे दिल और दिमाग से। ऐसे आस्थायुक्त ज्ञान के आधार पर जो आचरण किया जायगा, वह निश्चय ही आत्मा के लिए उत्थानकारी होगा जो सही अर्थ में चरित्र कहलायगा।

ऐसे कल्याणकारी रत्नत्रय युक्त धर्म के संबंध में कहीं कोई विवाद नहीं होता। आप स्वाध्याय से आरंभ करके रत्नत्रय की दिशा में अग्रगामी बनेंगे तो उससे आत्मभाव का सर्वश्रेष्ठ पोषण होगा। इस परिप्रेक्ष्य में विचार कीजिये कि यदि आप धर्म की उपेक्षा करते हैं तो वस्तुतः किसकी उपेक्षा करते हैं ? धर्म के प्रति आपकी उपेक्षा से धर्म तो मिटेगा नहीं, आप ही अपनी हानि करेंगे। धर्म की उपेक्षा का दंड आपकी अपनी ही आत्मा को भुगतना होता है जो विकास से वंचित रह जाती है। गहराई से देखें तो धर्म की उपेक्षा अत्यन्त घातक सिद्ध होती है।

धर्म की उपेक्षा से वर्तमान दुर्दशा

धर्म के प्रति अर्थात् अपनी ही आत्मा के प्रति–स्वभाव के प्रति आज चारों ओर जो अनास्था का भाव फैला हुआ है, क्या यह उसी का परिणाम नहीं है जो सम्पूर्ण जीवन, उसकी वृत्तियों और प्रवृत्तियों को तथा समाज, राष्ट्र और विश्व सभी को दुर्दशाग्रस्त बनाये हुए हैं ? आप अपने ही प्रति अनास्था रखें और अपना ही विकास करना चाहें–ये दोनों विरोधी बातें एक साथ कैसे प्रतिफलित हो सकती हैं ?

यदि आज किसी साठ–पैंसठ वर्ष के व्यक्ति से पूछें कि वह अपने बाल्यकाल के समय की व्यवस्था और अवस्था की तुलना में आज की व्यवस्था और अवस्था में क्या अन्तर देखता है ? वह इस प्रश्न का जो उत्तर देगा, उससे साफ-साफ नक्शा खिंच जायगा कि तब से अब व्यक्ति कितना अधिक विकारग्रस्त हो गया है तथा समाज व राज का ढांचा कितना बदल गया है ? यह चारों तरफ सभी क्षेत्रों में बदलाव क्यों आया ? सभी का उत्तर है कि नैतिकता खो देने से, आचरण हीनता के फैल जाने से। और मैं पूछूं कि नैतिकता और सदाचरण का लोप क्यों हुआ ? एक ही उत्तर होगा धर्म की उपेक्षा से।

धर्म को एक जहाज मान लीजिये। आप संसार रूपी समुद्र में तैर रहे हैं। समुद्र के पार उतरना चाहते हैं तो तैर कर गंतव्य तक पहुंचना असंभव नहीं तो संभव भी नहीं। आप को आश्रय की आवश्यकता होती है। आप धर्म के जहाज पर चढ़ जाते हैं और पार उतर जाते हैं। अब मझधार में आप कहें कि हमें तो जहाज पसन्द नहीं है तो समझें कि आप जहाज से कूद पड़ते हैं। तात्पर्य कि आपने जहाज की उपेक्षा कर दी। आप बताइये कि आपकी उपेक्षा से हानि किसको होगी जहाज को या आपको ? इस कारण धर्म की उपेक्षा करना अपने ही पांवों पर कुल्हाड़ी चलाना है– इस सत्य को सदा याद रखिये।

वर्तमान दुर्दशा और संकट को मिटाने का भी एक ही उपाय है कि धर्म के प्रति समर्पित हो जावें, नैतिकता एवं चारित्र्यशीलता को सम्पूर्ण गतिविधियों का मूल मंत्र मान लें तथा परभाव में भटकने को रोककर स्वभाव में रमण करने का अभ्यास बना लें। जिसकी आत्मा सदा जागृत रहती है, वही सदा जागृत रहकर चहुं ओर जागृतिमय वातावरण बनाये रख सकता है।

मार्ग दर्शन अपना-अपना

भगवान् महावीर ने संसार के समस्त प्राणियों को स्वतन्त्रता की राह दिखाई। उन्होंने किसी भी तंत्र को मानने की सम्मति नहीं दी, केवल आत्मतंत्र को मान्यता दी है। आप किसी के गुलाम न बनें, न किसी पंथ या मत के और न ही किसी अन्ध विश्वास या हठाग्रह के। सबसे बड़ी बात उन्होंने यह बताई कि आप इन जड़ पदार्थों के गुलाम न बनें। ये जड़ पदार्थ पर भाव हैं और पर भाव की ओर भागने से सदा इनकी परतंत्रता मिलती है। किसी की भी परतंत्रता एक जागृत आत्मा को कभी भी मान्य नहीं करनी चाहिये।

इस हेतु सम्बोधन दिया गया है कि आप निजात्मा के मार्ग दर्शन में चलें। अब जिस आत्मा को मार्ग–दर्शन देना है, उस आत्मा में मार्गदर्शन की योग्यता और क्षमता तो होनी ही चाहिये। यह योग्यता और क्षमता अवश्य पहले अपनी आत्मा में पैदा करनी होगी जो कार्य आप ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की यथाशक्ति आराधना और साधना करके ही प्राप्त कर सकते हैं। निजात्मा को मार्गदर्शन के योग्य एवं सक्षम बनाने के लिए आप अपनी आत्मा की विकास यात्रा आज ही आरम्भ कर दीजिए। इस शुभ विकास यात्रा का शुभ मुहूर्त आप स्वाध्याय से कीजिए। जितना गहरा आप स्वयं अध्ययन और स्व का अध्याय करेंगे, उतनी ही मार्गदर्शन की अनूठी शक्ति आपकी आत्मा को प्राप्त हो सकेगी।

★

3

स्वाध्याय : मुक्ति का दिशा बोध

संसार के संसरण का मूलाधार है चेतन एवं जड का संयोग। यह संयोग ही अनन्त शक्ति की स्वामिनी आत्मा को बांधे हुए है। आत्मा अनादिकाल से इस बंधन में बंधी हुई चल रही है। जैसे तैल मालिश करके कोई व्यक्ति बालू रेत पर लेटे तो रेत के कण अपने आप ही उस व्यक्ति के शरीर के साथ चिपक जाते हैं, उसी प्रकार जड रूप शरीर के साथ संयुक्त होकर यह आत्मा जो इस संसार मे भव भ्रमण कर रही है, उससे इसकी अपनी ही क्रियाओं के फलस्वरूप कर्मों का बंध, इसके स्वरूप के साथ जुडता जा रहा है। तैल लगे शरीर पर जैसे बालू रेत के कणों की परत जम जाती है, उसी तरह आत्म-स्वरूप पर कर्म बंध की परतें जमती जा रही हैं। यह कर्मावरण ही आत्मा का सबसे बडा बंधन बन गया है।

एक स्वच्छ दर्पण मे अपना प्रतिबिम्ब साफ-साफ दिखाई देता है किन्तु अगर उस पर धूल और मैल की परत चढती जाय तो उस में प्रतिबिम्ब धुंधला जाता है फिर जरूरत होती है कि उस दर्पण को धो पोछ कर साफ कर दिया जाय। तब उसे उसकी मूल क्षमता पुन. प्राप्त हो जाती है। दर्पण स्वरूप के समान ही आत्म स्वरूप की भी स्थिति होती है। यदि इस आत्मा को भी अपना मूल स्वरूप प्राप्त हो जाय तो इसका जड के साथ संयोग समाप्त हो जाय। तब संसारी आत्मा सिद्धात्मा बन जाती है और पुन. इस संसार मे नहीं आती है। वह मुक्ति के परम सुख मे सदा तल्लीन हो जाती है।

इस आत्मा के लिए बन्धन [illegible] कर्मों का आवरण तथा जड का संयोग। मुक्ति की [illegible] की आवश्यकता नहीं है क्योंकि बंधन टूट जायगा तो वह अवस्था मुक्ति की अवस्था ही होगी। [illegible] मे भी कर्मों का आवरण

समाप्त हो जाएगा तो जड़ का संयोग स्वतः ही समाप्त हो जाएगा। अतः बन्धन रहेगा एक मात्र कर्मबन्ध का आवरण और बंधन–मुक्ति ही मुक्ति होगी।

तत्त्व ज्ञान की शुरुआत

वीतराग देवों ने नव तत्त्व के रूप में आत्मा के बंधन तथा उसकी मुक्ति का अपूर्व तात्त्विक विश्लेषण किया है। ये नव तत्त्व इस प्रकार हैं– जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष। इनका यहां संक्षिप्त विश्लेषण किया जा रहा है।

जीव (आत्मा) और अजीव (जड़) के संयोग से संसार की यह समस्त रचना है। जीव अजीव/कर्म के साथ बद्ध होकर नानाविध क्रियाएं करता है। इन क्रियाओं के फलस्वरूप जीव को कर्मो का बंध होता है, तैल लगे शरीर के साथ रेत के कणों के स्वतः ही चिपक जाने के समान। ये कर्म भी कार्माण वर्गणा के पुद्‌गल रूप जड़ ही होते हैं और जड़ रूप बालू कण की तरह ही चिपकते हैं। शुभ क्रियाओं के फलस्वरूप शुभ कर्म संलग्न होते हैं जिसे पुण्य कहते हैं। अशुभ क्रियाओं के फलस्वरूप अशुभ कर्मो का बंध होता है जो पाप कहलाता है। यह जो कर्मो के आने की व आत्मा के साथ संलग्न होने की विधि है, वह आश्रव कहलाती है। कर्मो के ऐसे आगमन को रोकें, वह विधि संवर है। आये हुए कर्मो को आंशिक क्षय करने की विधि का नाम निर्जरा है। इसे एक दृष्टान्त से समझिये। एक तालाब है, उसमें पानी चारों ओर के या ढलान वाले नदी–नालों से आता है। तो पानी की तरह आत्मा रूपी तालाब में जो कर्म आते हैं वह आश्रव है। पानी के आने को रोक दिया जाय वह संवर है। पानी रुक जाय तब भी भरे हुए पानी को निकाले बिना तालाब की पूरी सफाई नहीं होती है। आने वाले कर्मो को रोक देने के बाद पूर्व संचित कर्मो को तपाराधन से नष्ट करना–यह निर्जरा है। आत्मा के साथ कर्म बन्ध होने की जो सम्पूर्ण प्रक्रिया है वह बंध है और इस बंध से पूरा छुटकारा पा जाना मोक्ष है।

इस संसार में बन्धन की यही सम्पूर्ण प्रक्रिया है और इस बंधन से मोक्ष ही संसार से मुक्ति है। आत्मा का यही चरम लक्ष्य माना गया है कि वह अपने स्वरूप को कर्मो के समस्त आवरणों से मुक्त करले तथा जड़ के साथ अपना संयोग तोड़कर सिद्धावस्था की आनन्दानुभूति लेती रहे।

दोराहे : किधर चलें ?

हम ऐसी जगह पर खड़े हैं, जहां से दो मार्ग फंटते हैं–हम जिधर चाहे उधर जा सकते हैं। एक संसार का मार्ग है, दूसरा मुक्ति का मार्ग है। एक

बन्धन का मार्ग है, दूसरा स्वाधीनता का मार्ग है। स्वाध्याय हमें दिशा देता है कि हम संसार और बन्धन के मार्ग पर नहीं, मुक्ति और स्वाधीनता के मार्ग पर चलें।

हम मानव जीवन में है, इसीलिये दोराहों पर है। अन्य सभी प्रकार के जीवनों से बढ़कर यह इस मानव जीवन की ही विशेषता है कि वह बंधन से मुक्ति का सार्थक पुरुषार्थ कर सकता है। अन्य जीवनों मे आवश्यक शक्तियों की अल्पता होती है। देवजीवन मे अनेकानेक शक्ति की विद्यमानता के होने पर भी बंधन से मुक्ति के पुरुषार्थ की योग्यता और क्षमता नही होती है। इसी दृष्टि से इस मानव तन और जीवन को परम दुर्लभ कहा गया है।

इस परम दुर्लभ तन और जीवन की प्राप्ति का अर्थ है कि मानव बन्धन और मुक्ति के मार्गों पर अपनी दूर–दृष्टि डाले और बन्धन के मार्ग को त्याग कर मुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़े। दोराहे पर खड़ा हुआ व्यक्ति यदि समय पर सही चुनाव कर ले तो वह अपने गंतव्य तक आसानी से पहुंच जाता है। इसके विपरीत यदि वह अपनी अज्ञता और विवेकहीनता से गलत निर्णय ले लेता है तथा गलत मार्ग पर चल पड़ता है तो उसका भटकाव निश्चित है। इसी रूप में यह मानव जीवन भी दोराहे पर खड़ा है। यदि वह सर्वज्ञों के ज्ञान के प्रकाश मे आत्मानुभूति के आधार पर निर्णय ले तो वैसा निर्णय यही होगा कि वह रत्नत्रय की साधना करने के लिये तथा धर्म के रंग मे रंग जाने के लिये मुक्ति के मार्ग पर अपने कदम आगे बढ़ा दे। दूसरी ओर यदि मानव सांसारिक सुखों की मोह मूर्छा मे आत्म–विस्मृत बन जाता है तो वह संसार के मार्ग पर ही चलता रहता है तथा जन्म–मरण के चक्र मे भ्रमित होता रहता है।

दोराहे पर खड़े रह कर पथ निश्चय करने का ऐसा स्वर्णिम अवसर, ध्यान रखिये कि इस मानव–जीवन में ही उपलब्ध होता है और इस जीवन मे ही सही निर्णय लेकर अपने धर्ममय पुरुषार्थ से मुक्ति के सन्निकट पहुंचने की सफलता प्राप्त की जा सकती है। यदि इस बिन्दु पर सही निर्णय लेने से चूक जाते है तो कहा नहीं जा सकता कि चौरासी लाख योनियों के चक्र मे घूमते हुए इस आत्मा को पुनः ऐसा अवसर कब मिले। अतः समय, समझ और साहस की इसे चेतावनी मानना चाहिए कि इस अवसर का पूरा–पूरा लाभ उठाया जाय।

विकारों का मार्ग ही संसार

इन दोराहों पर एक तो संसार का मार्ग है, वह मार्ग इस आत्मा के लिये नया नहीं है। वह इस मार्ग पर अनादिकाल से चलती हुई आ रही है और

उसे इस मार्ग का पूरा–पूरा अनुभव होना चाहिए कि यह मार्ग विकारों का मार्ग है–सतत रूप से कर्मबंध का मार्ग है।

संसार के प्रति आकर्षण का मूल आवेग है मोह का आवेग, राग भाव की लिप्तता और आसक्ति की गृद्ध दशा। यह मोह होता है जड़ पदार्थों के प्रति, अपने सम्बन्धियों के प्रति और अपने ही शरीर के प्रति। मोह भाव का प्रस्फुटन राग में होता है कि अपनी इन्द्रियों और मन को जो इष्ट लगे, वे पदार्थ अपने और अपनों के ही पास रहें, ऐसे पदार्थों को अधिकतम मात्रा में संचित किया जाय तथा उन पदार्थों को कोई अपने से छीने तो उसका किसी भी स्तर पर विरोध किया जाय। यह राग भाव मोहावेग के साथ चिकना होता रहता है। राग की प्रतिक्रिया के रूप में द्वेष का जन्म होता है और राग द्वेष की प्रकृतियों व प्रक्रियाओं से ही कर्म बन्ध होता है। इसी कारण राग और द्वेष को सांसारिकता के बीज रूप में देखा गया है।

राग द्वेष के घात–प्रतिघातों में ही विकारों का कीचड़ फैलता जाता है और आत्मा की चेतना शक्ति शिथिल होती जाती है। मन और इन्द्रियों के इष्ट पदार्थों पर राग आता है तो अमनोज्ञ पदार्थों पर द्वेष। इसी प्रकार व्यक्तियों के प्रति भी राग और द्वेष की विष–धारा बहती है। इसी विष धारा में विषय और कषायों के विकारों का विष भी मिलता रहता है जो आत्म स्वरूप को अधिकाधिक कालिमामय बनाता जाता है। आप तो प्रत्यक्ष देखते हैं कि आदमी की उम्र ढल जाती है और मौत सामने आकर खड़ी हो जाती है तब तक भी धन, सम्पत्ति और सत्ता के लिये उसकी घिनौनी हाय–हाय मिटती नहीं है और वह रागद्वेष तथा विषय कषाय के विकारों की विषधारा में संज्ञा–शून्य होकर टकराता–बहता ही रहता है जिससे गति मुक्ति का भान भी उसे नहीं रहता है।

दृष्टांत के रूप में कहा गया है कि संसार में पदार्थों आदि का सुख इतना अल्प है जैसे एक सोने की छोटी सी कील हो और दुःख थाल जितने अधिक जो तांबे का हो याने जैसे तांबे के थाल में मात्र एक सोने की छोटी सी कील। एक रुपया कमाने के लिये कोई सौ रुपयों का नुकसान करे तो क्या आप उसे बुद्धिमान कहेंगे ? फिर आप ही सोचिये कि आप स्वयं कितने बुद्धिमान हैं ? एक कील जितने सुख के लिये थाल जितने दुःखों को न्यौता देते रहते हैं और फिर भी इस दुरावस्था को बन्धन रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। आप ध्यान दें या न दें, अपने कर्मो का फल तो आपको भोगना ही पड़ेगा। काश, ध्यान दे दें तो उससे छुटकारे की राह भी मिल सकती है।

स्वाध्याय से मुक्ति का दिशा-बोध

संसार में भटकते-भटकते आत्मा में ऐसी शिथिलता व्याप्त हो जाती है कि न तो वह अपने स्वरूप पर सोचती है और न ही अपनी बन्धन-मुक्ति के विषय में कोई प्रयत्न करने का उत्साह रखती है। इस कारण अधिकांशतः मुक्ति का दिशा-बोध ही उसके ज्ञान-चक्षुओं से ओझल रहता है। अतः इस संसारी आत्मा को मुक्ति के दिशा बोध की पहली आवश्यकता होती है।

मुक्ति के दिशा बोध का सर्वश्रेष्ठ उपाय है स्वाध्याय। स्वाध्याय को धर्म क्षेत्र में प्रवेश करने का राज मार्ग मानिये। स्वाध्याय के चिन्तन क्षणों में ही यह प्रतीति ली जा सकेगी कि संसार का मार्ग विकारों का मार्ग क्यों है-बन्धन का मार्ग क्यों है ? अपने जीवन के अनुभव सामने चित्रित होने लगेंगे कि कब आपने धन या पद पाने के लिए अनीति और अन्याय के कार्य किये तथा प्राप्त धन या पद भी आपके पास कब तक टिक पाया ? आपके अनुभव यह तथ्य भी खोलेंगे कि जिन 'अपने' लोगों के लिए आपने पाप कार्यों में अपने हाथ रक्तरंजित बनाकर धन कमाया और उन्हें सुख पहुंचाया, आपकी विपत्ति का समय आने पर उन लोगों ने ही आपकी सहायता से अपना मुख किस क्रूरता के साथ फेर लिया ? आपके अन्तःकरण में विचार उठेंगे कि यह तो सिर्फ स्वार्थों का संसार है। हर कोई अपनी स्वार्थपूर्ति हुई नहीं कि अपनी पीठ बता देता है। यहां प्रेम का प्रकटीकरण मात्र स्वांग है। और उससे संसार की निरर्थकता का भान होने लगता है।

स्वाध्याय के चिन्तन क्षण ही उसे जागृति और सावधानी दिलाते हैं कि इस संसार में हैं तो आत्मीय समानता के आधार पर समस्त प्राणी अपने हैं और नहीं हैं तो उसके आत्मीय भी अपने नहीं हैं। बारह भावनाएं आप जानते हैं और स्वाध्याय की गहनता में रमण करने के बाद इन्हीं भावनाओं में एक स्वाध्यायी का आत्मभाव विचरण करने लगता है। तभी वह संसार के मार्ग को छोड़ता है और मुक्ति का दिशा बोध लेकर मुक्ति मार्ग पर कदम बढ़ाता है।

पराधीनता क्या, स्वाधीनता क्या ?

पराधीनता और स्वाधीनता का रहस्य भी भली प्रकार से एक स्वाध्यायी की ही समझ में आता है। ज्यों-ज्यों आत्म-भाव में उसका विचरण बढ़ता जाता है, उसे आत्मानुभूति का आनन्द मिलता जाता है। तब उस आनन्द के सन्दर्भ में वह अपने भोगे हुए सांसारिक सुखों का रस चखने का प्रयास करता है। इस पर उसे विदित होता है कि यही शाश्वत आनन्द है जो अमिट रहता है।

ब्रह्मचर्य

卐 ब्रह्मचर्य जीवन है। उससे शक्ति का विकास होता है, जहां शक्ति है वहां रोगों का आक्रमण नहीं होता है। अशक्त एवं दुर्वल व्यक्ति ही रोगों द्वारा सताये जाते हैं। निरोग बनने के लिये ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करें।

卐 जिस वीर्य के प्रताप से बिना दांत गिरे बिना आंखों की ज्योति घटे, बिना वाल सफेद हुए सौ बरस तक आसानी से जिया जा सकता है उस वीर्य को साधारण मौज मस्ती के लिये नष्ट कर देना कितनी मूढ़ता है।

卐 बहिनों ! अगर आपको हनुमान सरीखा शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न करने की साध है तो अपने पति को कामुक बनाने वाले साज–श्रृंगार और हाव भाव त्याग कर स्वयं ब्रह्मचर्य की साधना करो और पति को भी ब्रह्मचर्य पालन करने दो।

1

ब्रह्मचर्य : प्रतिरोधक शक्ति स्रोत

तीर्थंकर देवों ने चतुर्विध संघ की स्थापना की। इस संघ मे दो वर्ग रखे–एक साधु-साध्वी का वर्ग तथा दूसरा श्रावक-श्राविका का वर्ग। तदनुसार क्रमिक रूप से दो प्रकार के आचार धर्म की प्ररूपणा की। पहले वर्ग के लिए महाव्रतों के रूप में तो दूसरे वर्ग के लिए अणुव्रतों के रूप में। अणुव्रत को आचार धर्म का निम्न चरण बताया गया तो महाव्रत को उच्च चरण। दोनों प्रकार के व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत को चौथे क्रम पर रखा गया है तथा उस व्रताचरण की आदर्श महत्ता पर विशद प्रकाश डाला गया है। ब्रह्मचर्य व्रत की उपादेयता पर अविकराम बल भी दिया गया है।

शास्त्रों में ब्रह्मचर्य सहित आचार धर्म के पालन को खांडे की धार पर चलने जैसा बताया गया है। तलवार की धार पर चलने की कला तो फिर भी आसान हो सकती है किन्तु निष्ठापूर्वक इस आचार धर्म का पालन अत्यन्त कठिन होता है। इसके लिये प्रतिक्षण सजगता और सतर्कता की आवश्यकता होती है और ध्यान रखना होता है कि व्रतों का पालन अखंड रूप से किया जाय। व्रत पालन में तनिक सी भी शिथिलता को अक्षम्य बताया गया है और सावधानी दिखाई गई है कि व्रत में अल्पांश रूप से भी खंडन की स्थिति नहीं आनी चाहिये।

समुच्चय रूप से आचार धर्म को संग्रहित जल के बांध की पाल की उपमा दी गई है। जल की मचलती लहरों को विकारों का प्रबल आवेग माना गया है। अब पाल जितनी मजबूत होगी, उतनी ही शक्ति से जल प्रवाह को और लहरों के आघात को रोका जा सकेगा। पाल की रक्षा का काम इसी कारण बहुत महत्त्वपूर्ण कहा गया है। पाल में कहीं मामूली सी दरार आ जाये या सामान्य सी मिट्टी हट जाय तो तत्काल पाल की क्षति होने की सम्भावना

नहीं रहती है, किन्तु आचार धर्म के पालन में तनिक सी भी शिथिलता या असावधानी क्षम्य नहीं मानी गई है, क्योंकि आज की मामूली सी तरेड़ कल बड़ी दरार बन जायगी तथा हटी हुई सामान्य मिट्टी धीरे–धीरे पाल के एक भाग को गिरा देगी–तब बांध निश्चित रूप से फूट जायगा। अतः आचार धर्म के पालन में पूर्ण कठोरता का निर्देश, इसी दूर दृष्टि से दिया गया है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन भी कठोरतम होना चाहिये।

ब्रह्मचर्य व्रत का स्वरूप

आचार धर्म में जिन महाव्रतों एवं अणुव्रतों का उल्लेख किया गया है, ब्रह्मचर्य व्रत उनमें से एक है। कुल पाँच–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के व्रतों में ब्रह्मचर्य को चौथे क्रम पर रखा गया है। अहिंसा जीवन को सरल और सदय बनाती है, तभी सत्य की खोज में रुचि जाग्रत बनती है। सत्य के प्रकाश में ही चौर्य की बारीकियों पर ध्यान जाता है और उन्हें त्यागने की मनोवृत्ति बनती है। अचौर्य की सामाजिक, नैतिकता बनाकर आत्मीय नैतिकता के रूप में ब्रह्मचर्य का पालन सहज बन जाता है। और जब आत्मा बल का गुरुतम संबल प्राप्त हो जाय तो ममत्व रूप परिग्रह के अनैतिक बल को कौन रखना चाहेगा ? इन पांचों व्रतों का स्थूल रूप से त्याग श्रावक श्राविका वर्ग करता है तो श्रमण श्रमणी वर्ग इन व्रतों का सूक्ष्म रूप से यानें कि पूर्ण रूप से पालन करता है। यही महाव्रत और अणुव्रत का अन्तर है।

अणुव्रत के अनुसार ब्रह्मचर्य का सीमित पालन किया जाता है। श्रावक और श्राविकाओं को मैथुन सेवन के सम्बन्ध में स्व पत्नि या स्व पति की छूट रहती है– शेष सबका त्याग होता है। इसकी सीमाएं चौथे व्रत के अतिचारों से जानी जा सकती हैं जो इस प्रकार हैं–(1) दूसरे द्वारा परिग्रहिता याने अन्य परिणीता स्त्री के साथ गमन नहीं (2) अपरिग्रहिता याने कुमारिका परित्याक्ता विधवा के साथ गमन मान्य नहीं। (3) कामुकता भड़काने वाली रति क्रीड़ाएं भी अकरणीय कहीं गई है। (4) दूसरों के विवाह बंधन बंधवाने के काम में भी भाग नहीं लेना चाहिये। तथा (5) काम भोगों के विषय में तीव्र अभिलाषा नहीं रखनी चाहिये। इसके अलावा इस वर्ग को मैथुन का त्याग देव देवी सम्बन्धी द्विविध तीन प्रकार से किन्तु मनुष्य तिर्यंच सम्बन्धी एक विध एक प्रकार से होता है। तीन प्रकार होते हैं मनसा, वयसा एवं कायसा अर्थात् मन से, वचन से और काया से। उसी प्रकार तीन विधियाँ होती हैं करना, करवाना और करने वाले का अनुमोदन करना। तो ब्रह्मचर्य पालन के सम्बन्ध में श्रावक श्राविका वर्ग अपने

चौथे अणुव्रत के प्रसंग से एक विध अर्थात् न करना और एक प्रकार याने 'काया से' का त्याग करता है जो मनुष्य या तिर्यंच के साथ मैथुन सेवन से सम्बन्ध रखता है। अपनी काया से स्व पत्नि या स्व पति के सिवाय शेष किसी के साथ मैथुन सेवन न करने की उसकी प्रतिज्ञा होती है। शेष करवाने व करने वाले के अनुमोदन की दो विधियों तथा मन और वचन के दो प्रकार उसके ब्रह्मचर्य पालन के दायरे में नहीं रखे गये हैं, क्योंकि वह व्रताचरण का प्राथमिक स्तर होता है।

किन्तु महाव्रत के रूप में साधु–साध्वी वर्ग को सम्पूर्ण मैथुन सेवन का त्याग करना होता है तीनों करणों और तीनों योगों से। काया द्वारा पालनीय ब्रह्मचर्य व्रत के साथ मन और वचन के जुड जाने से इस व्रताचरण का क्षेत्र सम्पूर्ण रूप से व्यापक हो जाता है। इस वर्ग को तीनो विधियों से भी ब्रह्मचर्य का पालन करना होता है। नव वाड से ब्रह्मचर्य का पालन करने का भी इस वर्ग के लिये विधान है। इस दृष्टि से साधु साध्वी का वर्ग सम्पूर्ण रूप से ब्रह्मचारी होता है– मन में भी काम विकार का पैदा होना उनके लिए अक्षम्य है। काम में संबंधित समस्त प्रवृत्तियां तो प्रतिबंधित है ही किन्तु समस्त वृत्तियाँ भी त्याज्य कही गई है।

कामाग्नि के लिये शीतल जल

इस आत्मा और शरीर को जलाकर जर्जर कर देने वाली कोई अग्नि होती है तो वह है कामाग्नि। कामवासना का फैलाव आग की तरह होता है और मानव मन को यह आग बुरी तरह से अपनी चपेट मे ले लेती है। कामदेव की फैलाई आग मे फंसकर किन–किन लोगो ने कैसे–कैसे अनाचार किये–दृष्टान्तो से ग्रंथो के पृष्ठ के पृष्ठ भरे पडे है। इस कामरूपी अग्नि को शान्त करने वाला शीतल जल के समान कोई उपाय है तो वह है ब्रह्मचर्य का तेजस्वी उपाय।

गौतम कुलक में कहा गया है कि 'मूढ़ा नरा कामपरा हवन्ति' अर्थात् मूर्ख लोग ही कामुक होते हैं, कारण मन और इन्द्रियां जब अपनी स्वाभाविक दशा से शून्य बन जाती हैं, तभी काम का उद्भव होता है। काम भोग के पांच प्रकार होते हैं–शब्द, रूप गंध, रस और स्पर्श। ये दो भेद प्रकारान्तर से हैं–पहला भेद असम्प्राप्त अर्थात् वैचारिक जो लालसा, चिन्ता, स्मरण, विरह, प्रमाद, उन्माद आदि दस तरह का होता है। दूसरा भेद सम्प्राप्त अर्थात् शारीरिक होता है जो सम्भाषण आदि से चौदह भेद का कहा गया है। कामवेग

के दस परिणाम बताये हैं–चिन्ता, दर्शनेच्छा, दीर्घ विश्राम, ज्वर, दाह, अरुचि, महामूर्छा, उन्मत्तता, अनिश्चयता और मरण। इस प्रकार काम वश मनुष्य अपनी शरीर शक्ति को ही नष्ट नहीं करता है, बल्कि अपने आत्मबल को भी खोकर अपनी दयनीय दशा बना लेता है। इस दुर्दशा से बचने की प्रेरणा देता है ब्रह्मचर्य का व्रत, जितकी जितनी दृढ़ता से पालना की जाय उतना ही काम का बल जीर्णशीर्ण हो जाता है। काम उत्पत्ति मोह से मानी गई है। ब्रह्मचर्य व्रत मोह पर भी कठोर आघात करता है, क्योंकि यह बाह्य आकर्षण के प्रभाव से मुक्त होता है। मन और इन्द्रियों को जीतने वाला ही श्रेष्ठ ब्रह्मचारी होता है।

मानसिक और वाचिक ब्रह्मचर्य

काम का आवेग मन में उमड़ता घुमड़ता है जो वचन में प्रकट होता है तथा काया के माध्यम से पूरा होता है। किन्तु ब्रह्मचर्य व्रत का आरम्भ काया से किया जाता है क्योंकि उसे वश में करना तुलनात्मक दृष्टि से सरल होता है। श्रावक को इस विचार से मानसिक और वाचिक ब्रह्मचर्य से छूट दी गई है। कायिक से वाचिक ब्रह्मचर्य कठिन होता है क्योंकि ध्यान में रखते रखते भी व्यंग, विनोद या कटाक्ष के रूप में व्यक्ति कामुक वचन बोल ही देता है क्योंकि मन को तब तक वह विजित नहीं कर पाया होता है। अतः कायिक–कामुकता (मैथुन) को सीमित बनाकर या त्याग कर वाचिक ब्रह्मचर्य का अभ्यास सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

कठिनतम होता है मानसिक ब्रह्मचर्य का पालन। मन की चंचलता सर्व विदित है और इस कारण मन को जीतना भी दुष्कर है। मन में काम भाव का उदय तक न हो, यह सर्वश्रेष्ठ स्तर होता है किन्तु साधु धर्म को अंगीकार कर लेने के बाद वाचिक एवं मानसिक ब्रह्मचर्य का कठिन अभ्यास किया जाता है। यह सभी जानते हैं कि जीवन को विकारपूर्ण बनाने वाला ताकतवर कोई तत्त्व है तो वह है काम। काम से क्रोध, क्रोध से प्रतिशोध, द्वेष, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों की लाइन लग जाती है। यह दुर्गुणों क अंधड़ जीवन के सुखों और शान्ति को तहस नहस कर डालता हैं।

काम : मृत्यु का पैगाम

शरीर के लिये मृत्यु का कोई पैगाम है तो वह है काम। जब मन, वचन और काया इस काम की अग्नि में भेंट चढ़ते हैं तो समझिये कि उनकी दुर्दशा मृत्यु की पीड़ा से कम नहीं होती। एक प्रकार का पागलपन इस तरह फैल जाता है कि कोई भी सद्विचार वहाँ स्थान नहीं पाता। काम वेग में मोहान्धता

आज की सरकारें जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि को भी विकट समस्या के रूप में देखती हैं और चाहती हैं कि इस बाढ़ को रोका जाय। लेकिन खेद का विषय है कि वे परिवार नियोजन हेतु ब्रह्मचर्य पालन के सही उपाय को छोड़कर अन्य अप्राकृतिक उपायों का प्रचार करती हैं। ब्रह्मचर्य व्रत को सर्वाधिक महत्त्व देना जरूरी है।

बहुमुखी तेजस्विता के लिये

यदि बहुमुखी तेजस्विता से कोई अपने जीवन को विभूषित बनाना चाहता है तो उसे अधिकतम निष्ठा एवं कठोरता के साथ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिये। एक ब्रह्मचारी व्रत की आन्तरिकता में अलौकिक शक्तियों का अपार भण्डार होता है।

ब्रह्मचर्य भारत देश की संस्कृति में रचा बसा हुआ व्रत है, कोई नया प्रयोग नहीं। प्राचीन काल में जीवन का अधिकांश इस व्रताचरण के लिये समर्पित होता था। पहले पच्चीस वर्ष की आयु तक ब्रह्मचारी रहना होता था और आश्रमों में शिक्षा दीक्षा का क्रम चलता था। फिर पच्चीस वर्षों के गृहस्थ जीवन को निकाल दें तो वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम का पिछला समूचा जीवन पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य पालन के साथ व्यतीत किया जाता था और वह गृहस्थ जीवन भी काम के कीड़ों की तरह नहीं बीतता था। काम भी धर्म से प्रभावित रहता था।

ऐसी भव्य संस्कृति वाला देश आज अपनी उस भव्यता की ही उपेक्षा करे तथा ब्रह्मचर्य जैसे महान व्रत को न अपनाये तो यह लज्जाजनक ही कहा जायगा। शरीर और आत्मा को सम्पूर्ण तथा शक्तिशाली बनाने तथा बहुमुखी तेजस्विता को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है। ब्रह्मचर्य का कोई विकल्प नहीं है।

भी रोग के कीटाणु शरीर पर आक्रमण करते हैं और रक्त प्रवाह में आते हैं तो ये सफेद कण उनसे संघर्ष करते हैं। यदि रक्त के ये सफ़ेद कण शक्तिशाली होते हैं तो वे कीटाणुओं को प्रभावहीन बना देते हैं। कोई भी रोग़ शरीर को तभी घेरता है, जब रक्त के इन सफेद कणों की प्रतिरोधक शक्ति दुर्बल होती है या हो जाती है।

तदनुरूप आत्मा और शरीर के लिये ब्रह्मचर्य महान् प्रतिरोधक शक्ति के उत्पादक या स्रोत के रूप में सिद्ध होता है। शरीर तभी शक्तिहीन बनता है जब किसी न किसी रूप में ब्रह्मचर्य को नहीं अपनाते हैं और ब्रह्मचर्य व्रत का जब तक तीनों प्रकार से पालन नहीं किया जाता है, आत्मा निस्तेज बनी रहती है क्योंकि ब्रह्मचर्य के रूप में प्रतिरोधक शक्ति का अभाव होता है। जब काम का करारा आक्रमण होता है तब यदि ब्रह्मचर्य की प्रतिरोधक शक्ति संचित की हुई हो तो उसका प्रवेश ही प्रतिबन्धित कर दिया जाता है। जो काम अच्छे ऋषि मुनियों तक को परास्त कर सकता है, ब्रह्मचारी उसे बुरी तरह से परास्त कर देता है। सच कहे तो यह ब्रह्मचारी संजीवनी शक्ति का स्वामी होता है।

याद रखिये, ब्रह्मचर्य जीवन है। उससे प्रतिरोधक शक्ति का अद्भुत विकास होता है। जहां शक्ति होती है वहां रोगों का आक्रमण नहीं होता है। अशक्य एवं दुर्बल व्यक्ति ही रोगों द्वारा सताये जाते हैं। शरीर और मन से निरोग बनने के लिये ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करें।

संसार की समस्याएं और ब्रह्मचर्य

यदि विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले व्यक्ति इस ब्रह्मचर्य व्रत के महत्त्व को समझें तथा इसे अपनावें तो संसार में दुःखित कर रही वर्तमान की कई समस्याओं को सरलतापूर्वक सुलझा सकते हैं। केवल काम शक्ति की प्रबलता के कारण ही समस्याएं जटिल बनी हुई हैं।

सबसे बड़ी है अपराध की समस्या। अधिकतक अपराध चाहे वे हिंसा से सम्बन्धित हों अथवा तस्करी आदि अन्य कुकृत्यों से सेक्स की दुर्भावना से किये जाते हैं। कई महिलाओं का जीवन भी इन्हीं अपराधों के पीछे बर्बाद होता है। इन अपराधों तथा इनके निमित्त से फैलने वाले दुराचार को इच्छापूर्वक रोकना है तो वह इस व्रत को मान्य करने से हो सकता है।

इच्छा शक्ति का मूल वीर्य रक्षा में

वीर्यरक्षा का अर्थ है ब्रह्मचर्य व्रत की पालना। वीर्य शरीर शक्ति तथा पराक्रम का प्रतीक माना जाता है। यों है भी यह इस शरीर की अमूल्य धातु, जो लम्बी प्रक्रिया के बाद शरीर में उत्पन्न होती है तथा जब इसे परम श्रम एवं आत्म नियन्त्रण के साथ संचित किया जाता है तो यह अपरिमित शक्ति के स्रोत के रूप में परिवर्तित हो जाती है। एक व्यक्ति जो बड़ी सावधानी से पौष्टिक भोजन ग्रहण करता है, उसका सात दिनों की प्रक्रिया के बाद रस में रूपान्तरण होता है। यही रस शरीर के विविध रसायनों से मिश्रित बनकर एक सप्ताह में रक्त का रूप लेता है। इसी प्रकार रक्त से मांस, मज्जा, हड्डी आदि विभिन्न परिवर्तनों के बाद एक लम्बी अवधि में वीर्य का निर्माण होता है। इस प्रक्रिया से ही इसकी अमूल्यता सिद्ध होती है।

जिस वीर्य शक्ति के प्रभाव से बिना दांत गिरे, बिना आंखों की ज्योति घटे और बिना बाल सफेद हुए सौ बरस तक आसानी से जिया जा सकता है, उस वीर्य को साधारण मौज मस्ती के लिये नष्ट कर देना कितनी मूढ़ता है ? वीर्य की अप्रतिम शक्ति का अनुभव इस देश की संस्कृति को है और वीर्यवान का तेजवान होना प्राचीन काल मे जीवन का आवश्यक गुण माना जाता था। माता पिता का यह महान कर्तव्य माना जाता था कि वे वीर्यरक्षा में कृत संकल्प रहे तथा अपनी संतान को वीर्यवान बनने का अवसर दें। कारण वीर्यरक्षा से ही इच्छा शक्ति सुदृढ बनती थी और इच्छा शक्ति के बल पर कठिनतम कार्यों की सम्पूर्ति की जाती थी। आज भी प्राचीन काल के दृढ़ संकल्पी व्यक्तियों के जीवन में साधी गई सफलताएं प्रेरणा देने वाली हैं।

वर्तमान की विलासिता

प्राचीन काल की वीर्यरक्षा की इच्छा शक्ति वर्तमान की विलासिता तक किस प्रकार पतित हुई है—इसकी लम्बी कहानी है।

पहले वर्णाश्रम पद्धति का प्रचलन था और जीवन का पहले के पच्चीस वर्षों का विभाग ब्रह्मचर्याश्रम के नाम से जाना जाता था। यह जीवन की नींव के निर्माण का मूल्यवान समय हुआ करता था जब सम्पूर्णतः ब्रह्मचर्य का पालन कराया जाता था और इच्छा शक्ति बलवती बनाई जाती थी। ऐसे उच्च मानसिक वातावरण में छात्रों को शिक्षा दीक्षा होती थी वह जीवन भर के लिये प्रभावशाली सिद्ध होती थी। यह सब वीर्यरक्षा का सुपरिणाम होता था।

किन्तु जब देश पर आततायियों के आक्रमण होने लगे और विदेशियां का शासन हो गया तो दासता का दुष्प्रभाव देशवासियों के चरित्र पर पड़ने लगा। पुरानी परिपाटियां मिटने लगीं और नई आक्रामक सभ्यताएं देश में पतनकारी परिवर्तन लाने लगी। अंग्रेजों के शासन काल में तो पश्चिमी सभ्यता का इस देश की सभ्यता पर ऐसा आक्रमण हुआ कि वह चरमरा गई। यह सर्व विदित है कि पूर्व और पश्चिम की सभ्यताओं का मुख्य अन्तर है आध्यात्मिकता का और भौतिकता का। पूर्व की सभ्यता में जहां आध्यात्मिकता की सर्वोच्च प्रतिष्ठा है, वहां पश्चिम की सभ्यता में भौतिकवाद का बोलबाला है। जब इस देश में पश्चिम की सभ्यता का शासकों की सभ्यता के रूप में अन्धानुकरण होने लगा तो आध्यात्मिकता के अनुभव का क्षीण होते रहना अवश्यंभावी था।

इसी परिप्रेक्ष्य में लोगों की ब्रह्मचर्य पालन एवं वीर्यरक्षा के प्रति जागृति कम होने लगी, अभिरुचि घटने लगी और भौतिकवादी चमक दमक तथा देहवादी विलासिता की ओर लोगों के कदम बहकने लगे। दृष्टिकोण के इस परिवर्तन के साथ ही धन का प्रभाव भी बढ़ने लगा क्योंकि विलासिता का यही प्रधान साधन समझा जाने लगा। पहले धन गृहस्थों के जीवन व्यवहार का साधन था किन्तु सिर पर चढ़ा हुआ नहीं था। तब से धन की लालसा भी तीव्रतम होने लगी। खेद की बात तो यह है कि करीब दो सौ वर्षों के अंग्रेजों के लम्बे शासन में तो भारतीयता के सद्गुण नष्ट हुए और ब्रह्मचर्य व वीर्यरक्षा का महत्त्व घटा किन्तु देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद अब तक भी लोगों का दृष्टिकोण बदल गया हो और भारत की पुरानी आदर्श संस्कृति की तरफ आकर्षित हुआ हो—ऐसा नहीं लगता। लगता तो यह है कि स्वतन्त्रता के इन चालीस वर्षों में भारत की आदर्श संस्कृति एवं सभ्यता को अधिकतम क्षति पहुंच रही है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि देश का जन जीवन ब्रह्मचर्य एवं वीर्य रक्षा के राजपथ से पतित होकर आज घृणित विलासिता की अंधी गलियों में भटक रहा है। यही नहीं वर्तमान की विलासिता अपनी सभी मर्यादाएं तोड़कर नंगेपन पर उतर आई है। यह जीवन के सर्वनाश की अवस्था है।

शक्ति भण्डार खोजें या मरें

सच पूछें तो आज ऐसा संकट काल उपस्थित हो गया है, जिसमें आत्मा संज्ञा शून्य है, मन टूटा हुआ है तो शरीर लस्त-पस्त है। यह शक्तिहीनता की दुर्दशा है। किसी भी दुर्दशा में चाहे व्यक्ति हो या समाज ·· राष्ट्र—लम्बे समय तक जिया नहीं [illegible]कता है और इस दुर्दशा से

जितनी जल्दी सावधानी आवे, उतनी ही तेजी से जीवन रक्षा के उपाय प्रयोग में लाये जा सकते हैं।

शक्तिहीनता के इस संकट काल में दो ही विकल्प दिखाई देते हैं कि या तो ऐसे शक्ति भण्डार की खोज करो जिससे शरीर, मन और आत्मा में फिर से नये प्राणों का—तेजोमय कर्मठता का संचार किया जा सके या फिर अपने ही हाथों अपनी अकाल मौत का वरण करो। यह भी एक प्रकार से 'करो या मरो' का आह्वान है। आपको याद होगा कि नौ अगस्त 1942 को बम्बई में महात्मा गांधी ने विदेशी सत्ता को उखाड़ फैंकने की दृष्टि से 'करो या मरो' का नारा दिया था। सदियों की गुलामी से आत्म विस्मृत सी बनी हुई जनता ने भी उस नारे को झेला था और अपना तेजस्वी जौहर बताया था कि 1947 में अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाना ही पड़ा। फिर कोई कारण नहीं कि आज के शक्तिहीन लोग भी अपनी इच्छा शक्ति को जगा लें तो ब्रह्मचर्य व्रत की आचरण महिमा को पुनर्प्रतिष्ठित नहीं कर सकते हैं। जैसे स्वतन्त्रता के प्रति एक आशावादिता थी तो ब्रह्मचर्य व्रत अथवा वीर्य रक्षा के प्रति तो चहुंमुखी आशावादिता है—शरीर से आत्मा तक की शक्ति सम्पन्नता, सुघड़ता एवं सुन्दरता की आशा। फिर नई इच्छा शक्ति का प्रबल जागरण क्यों नहीं किया जा सकता है ? आवश्यकता है कि इस दिशा में कठिन और अथक प्रयास किये जाय।

विकास को अद्भुत बल

देश का एक एक नागरिक यदि वीर्यरक्षा के रहस्य को समझ जाय तथा सामान्य रीति से भी ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में अपना आचरण ढाल ले तो सच्चे विकास के एक नये युग का सूत्रपात किया जा सकता है। फिर व्रताचरण के सुप्रभाव से विकास की गति को ऐसा अद्भुत बल मिलेगा कि वह गति ही अक्षुण्ण नहीं होगी अपितु धर्म पालन के आदर्श सिद्धान्तों तथा जीवनोन्नायक मर्यादाओं के सन्दर्भ में देश का नया ही कायाकल्प हो सकेगा। देश के शुभ रूपान्तरण का प्रभाव सम्पूर्ण विश्व के परिवर्तन पर पड़े बिना नहीं रहेगा।

वीर्य जैसी अमूल्य धातु का जब सावधानीपूर्वक शरीर में संरक्षण एवं संचय किया जाने लगेगा तो उसका पहला सुप्रभाव शरीर और मन पर अवश्य दिखेगा। शारीरिक शक्ति के बढ़ने से कार्यकारी क्षमता एवं स्फूर्ति का विकास होगा तो मन भी एकाग्रता की शक्ति से सम्पन्न बनकर शरीर और इन्द्रियों की प्रवृत्तियों पर कुशलतापूर्वक नियन्त्रण स्थापित कर सकेगा।

किन्तु जब देश पर आततायियों के आक्रमण होने लगे और विदेशियों का शासन हो गया तो दासता का दुष्प्रभाव देशवासियों के चरित्र पर पड़ने लगा। पुरानी परिपाटियां मिटने लगीं और नई आक्रामक सभ्यताएं देश मे पतनकारी परिवर्तन लाने लगी। अंग्रेजों के शासन काल में तो पश्चिमी सभ्यता का इस देश की सभ्यता पर ऐसा आक्रमण हुआ कि वह चरमरा गई। यह सर्व विदित है कि पूर्व और पश्चिम की सभ्यताओं का मुख्य अन्तर है आध्यात्मिकता का और भौतिकता का। पूर्व की सभ्यता में जहां आध्यात्मिकता की सर्वोच्च प्रतिष्ठा है, वहां पश्चिम की सभ्यता में भौतिकवाद का बोलबाला है। जब इस देश में पश्चिम की सभ्यता का शासकों की सभ्यता के रूप में अन्धानुकरण होने लगा तो आध्यात्मिकता के अनुभव का क्षीण होते रहना अवश्यंभावी था।

इसी परिप्रेक्ष्य में लोगों की ब्रह्मचर्य पालन एवं वीर्यरक्षा के प्रति जागृति कम होने लगी, अभिरुचि घटने लगी और भौतिकवादी चमक दमक तथा देहवादी विलासिता की ओर लोगों के कदम बहकने लगे। दृष्टिकोण के इस परिवर्तन के साथ ही धन का प्रभाव भी बढ़ने लगा क्योंकि विलासिता का यही प्रधान साधन समझा जाने लगा। पहले धन गृहस्थों के जीवन व्यवहार का साधन था किन्तु सिर पर चढ़ा हुआ नहीं था। तब से धन की लालसा भी तीव्रतम होने लगी। खेद की बात तो यह है कि करीब दो सौ वर्षों के अंग्रेजों के लम्बे शासन में तो भारतीयता के सद्गुण नष्ट हुए और ब्रह्मचर्य व वीर्यरक्षा का महत्त्व घटा किन्तु देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद अब तक भी लोगों का दृष्टिकोण बदल गया हो और भारत की पुरानी आदर्श संस्कृति की तरफ आकर्षित हुआ हो—ऐसा नहीं लगता। लगता तो यह है कि स्वतन्त्रता के इन चालीस वर्षों में भारत की आदर्श संस्कृति एवं सभ्यता को अधिकतम क्षति पहुंच रही है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि देश का जन जीवन ब्रह्मचर्य एवं वीर्य रक्षा के राजपथ से पतित होकर आज घृणित विलासिता की अंधी गलियों में भटक रहा है। यही नहीं वर्तमान की विलासिता अपनी सभी मर्यादाएं तोड़कर नंगेपन पर उतर आई है। यह जीवन के सर्वनाश की अवस्था है।

शक्ति भण्डार खोजें या मरें

सच पूछें तो आज ऐसा संकट काल उपस्थित हो गया है, जिसमें आत्मा संज्ञा शून्य है, मन टूटा हुआ है तो शरीर लस्त–पस्त है। यह शक्तिहीनता की दुर्दशा है। किसी भी दुर्दशा में चाहे व्यक्ति हो या समाज अथवा राष्ट्र—लम्बे समय तक जिया नहीं जा सकता है और इस दुर्दशा से

जितनी जल्दी सावधानी आवे, उतनी ही तेजी से जीवन रक्षा के उपाय प्रयोग में लाये जा सकते हैं।

शक्तिहीनता के इस संकट काल में दो ही विकल्प दिखाई देते हैं कि या तो ऐसे शक्ति भण्डार की खोज करो जिससे शरीर, मन और आत्मा में फिर से नये प्राणों का—तेजोमय कर्मठता का संचार किया जा सके या फिर अपने ही हाथों अपनी अकाल मौत का वरण करो। यह भी एक प्रकार से 'करो या मरो' का आह्वान है। आपको याद होगा कि नौ अगस्त 1942 को बम्बई में महात्मा गांधी ने विदेशी सत्ता को उखाड़ फैंकने की दृष्टि से 'करो या मरो' का नारा दिया था। सदियों की गुलामी से आत्म विस्मृत सी बनी हुई जनता ने भी उस नारे को झेला था और अपना तेजस्वी जौहर बताया था कि 1947 में अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाना ही पड़ा। फिर कोई कारण नहीं कि आज के शक्तिहीन लोग भी अपनी इच्छा शक्ति को जगा लें तो ब्रह्मचर्य व्रत की आचरण महिमा को पुनर्प्रतिष्ठित नहीं कर सकते हैं। जैसे स्वतन्त्रता के प्रति एक आशावादिता थी तो ब्रह्मचर्य व्रत अथवा वीर्य रक्षा के प्रति तो चहुंमुखी आशावादिता है—शरीर से आत्मा तक की शक्ति सम्पन्नता, सुघड़ता एवं सुन्दरता की आशा। फिर नई इच्छा शक्ति का प्रबल जागरण क्यों नहीं किया जा सकता है ? आवश्यकता है कि इस दिशा में कठिन और अथक प्रयास किये जाय।

विकास को अद्भुत बल

देश का एक एक नागरिक यदि वीर्यरक्षा के रहस्य को समझ जाय तथा सामान्य रीति से भी ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में अपना आचरण ढाल ले तो सच्चे विकास के एक नये युग का सूत्रपात किया जा सकता है। फिर व्रताचरण के शुभारंभ से विकास की गति को ऐसा अद्भुत बल मिलेगा कि वह गति ही अक्षुण्ण नहीं होगी अपितु धर्म पालन के आदर्श सिद्धान्तों तथा जीवनोन्नायक मर्यादाओं के सन्दर्भ में देश का नया ही कायाकल्प हो सकेगा। देश के पुनः रूपान्तरण का प्रभाव सम्पूर्ण विश्व के परिवर्तन पर पड़े बिना नहीं रहेगा।

वीर्य जैसी अमूल्य वस्तु का जब सावधानीपूर्वक शरीर में संरक्षण एवं संवर्धन किया जाने लगेगा तो उसका महत्व सुप्रभाव शरीर और मन पर अवश्यमेव मिलेगा। शारीरिक शक्ति के बढ़ने से कार्यकारी क्षमता एवं स्फूर्ति का विकास होगा तो मन भी एकाग्रता की शक्ति से सम्पन्न बनकर शरीर और इन्द्रियों की प्रवृत्तियों पर कुशलतापूर्वक नियन्त्रण स्थापित कर सकेगा।

स्वस्थ शरीर एवं जागृत मन का अस्तित्व ही आत्म जागरण के लिये पर्याप्त होता है। वह आत्मा जाग कर जीवन को गुणालंकृत बनाती है क्योंकि मन, वचन एवं काया की विशुद्धता उन आत्मीय सद्‌गुणों से ही प्राप्त होती है और वैसी विशुद्धता पर निर्मित व्यक्ति का जीवन दीप से दीप प्रज्वलित करने के समान अन्य व्यक्तियों के जीवन को भी विशुद्धता प्रदान करता है तो सम्पूर्ण समाज, राष्ट्र तथा विश्व तक के वातावरण को विशुद्धता की दिशा में अग्रगामी बनाता है। वह विकास का अत्युच्च स्तर होगा, जहां से जागृत आत्माओं का मुक्ति अभियान आरम्भ होता है।

आत्मबल की अन्तिम परिणति

वीर्यरक्षा के सुप्रयास तथा ब्रह्मचर्य व्रत की एकनिष्ठ आराधना की अन्तिम परिणति श्रेष्ठ आत्म बल की प्राप्ति के रूप में ही दिखाई देती है। आत्म बल से आत्म विश्वास पैदा होता है तथा आत्म विश्वास एवं आत्म बल की शक्ति से सम्पन्न होकर जो आत्मा अपने चरम विकास की यात्रा पर चल पड़ती है, उसकी प्रगति को संसार की कोई शक्ति अवरुद्ध नहीं कर सकती है।

संरक्षित वीर्य एक बहुमूल्य क्या अमूल्य रत्न के समान है। आप सोचिये कि आपके हाथ में कोई बहुमूल्य रत्न थमा दे और उसे आप ले न सकें या उससे लाभ न उठा सकें तो इस अकर्म का दोष किसे दिया जायगा? स्वयं के भाग्य निर्माण का दायित्व स्वयं को ही निभाना होता है—किसी और के भरोसे बैठे रहने से काम नहीं चलता। फिर यह वीर्यरक्षा एवं ब्रह्मचर्य व्रत का निर्वाह तो एकदम व्यक्तिगत कार्य ही है अतः मैं चाहूंगा कि आप यथा शक्ति जितना हो सके, ब्रह्मचर्य व्रत की अनुपालना करे तथा वीर्यरक्षा के उपायों में अधिक से अधिक लोगों को प्रशिक्षित करें।

दाम्पत्य जीवन में नयी क्रांति

आध्यात्मिकता की बहुत बड़ी शक्ति त्याग की भावना है। अपने पास जो कुछ भी है–पदार्थ ही नहीं, भावनाओं का धन भी दूसरों के सुख एवं विकास के लिये लुटा देना ही त्याग का मूल है। दूसरों का सुख भी मेरा सुख है–ऐसा त्याग भाव से अनुप्राणित व्यक्ति ही सोचता है। दूसरों के मुंह पर खिलती हुई खुशी ही उसकी प्रसन्नता की जननी बन जाती है। एक त्यागी लेने में नहीं, देने ही देने में अपना सुख मानता है।

सम्पूर्ण त्याग का मूर्त स्वरूप होता है हमारे यहां का साधु जीवन। अपनी प्राप्त सुख सुविधाओं को त्यागकर जब एक विरागी मुक्त भाव से साधु जीवन स्वीकार करता है तब उसके अन्तःकरण का त्याग–भाव अनुपम होता है। किन्तु यहां के गृहस्थ जीवन में भी त्याग की परम्पराओं का मान्य स्थान रहा है। परिवार का घटक इसका सुन्दर प्रमाण है। एक परिवार में कोई अपने आपको अकेला महसूस नहीं करता है–सब जैसे आपस में जुडे हुए एकरूप होते हैं। परिवार के युवा पुरुष सदस्य पूर्ण परिश्रम के साथ धनार्जन करते हैं किन्तु वे यह नहीं सोचते हैं कि वह धन उन पर ही खर्च हो। वे उसका अधिक से अधिक व्यय करते हैं परिवार के जरूरतमन्द सदस्यों के लिये वृद्धों और बालकों के लिए। ऐसा व्यवहार त्याग का ही तो लक्षण माना जायगा। इसी त्याग भाव पर ही तो आधारित था इस संस्कृति का 'वसुधैव कुटुम्बकम्' [illegible]। जैसे यह कुटुम्ब है, वैसे ही सारा विश्व अपनी पारस्परिक त्याग भावना पर आधारित आदर्श कुटुम्ब क्यों नहीं हो सकता ?

एक बात तो यह है कि इस आदर्श पारिवारिक त्याग की धुरी है यहां की सन्नारी। सन्नारी को त्याग की प्रतिमा कहा गया है जो सबको देती ही

देती है—कुछ भी लेने की कामना तक नहीं करती। परिवार की सेवा में दि रात खपती है और सबको सबके योग्य खिला कर स्वयं अवशिष्ट रूखे सू भोजन पर सन्तोष कर लेती है। सन्नारी के सभी रूप त्याग के ही प्रती दिखाई देते हैं—चाहे वह माँ का रूप हो या बहिन बेटी का किन्तु पत्नि का रूप अपने त्यागमय आचरण से गृहस्थी के रथ को सुन्दर रीति से चलाता है। नारी का गृहिणी का रूप त्यागमय भी है तो दायित्वों से भरा हुआ भी।

दाम्पत्य-जीवन का सदुद्देश्य

गृहस्थी के रथ के दो पहिये होते हैं—पति और पत्नि और दोनों का सम्मिलित जीवन ही दाम्पत्य जीवन कहलाता है। कोई भी रथ तभी सुघड़ रीति से चलता है जब उसके दोनों पहिये हर तरह से बराबर हों— नाप में भी और गुणवत्ता में भी। बेमेल पहिये पर रथ कभी एक गति से नहीं चल सकता है। यही स्थिति गृहस्थी की होती है, फिर भी उसमें सन्नारी का त्याग सर्वोपरि रहता है। घर के अन्दर का जितना मामला है, उसे पत्नि ही देखती है अपना दायित्व समझकर। यह मामला घर की बाह्य याने भोजन आदि की व्यवस्था तक ही सीमित नहीं होता है, बल्कि भावनात्मक चारित्र्यमूलक तथा सुसंस्कार प्रदान तक के दायित्व पत्नि ही आगे बढ़कर निबाहती है।

मुझे बताया गया है कि विदेशों में भारतीय परिवार व्यवस्था तथा उसमें पत्नि के त्याग पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया जाता है। ऐसा दाम्पत्य जीवन उन्हें आदर्श लगता है। विवाह वहां भी होते हैं किन्तु स्वतन्त्रता के नाम पर जो स्वच्छंदता चल जाती है, उससे पति और पत्नि अपने मन और मस्तिष्क से आपस में इतनी घनिष्ठता से नहीं जुड़ पाते हैं जितना कि वे यहाँ देखते हैं। इसका मूल कारण है निजी स्वार्थों का त्याग और संयुक्तता की भावना।

हमारे यहाँ दाम्पत्य जीवन का यही सदुद्देश्य है कि वह सांसारिक व्यवस्था है, फिर भी उसका मुख सदा धर्म की दिशा में रहे—वह कर्त्तव्य पालन के आदर्श धरातल पर चले। यह जीवन संसार के कार्यों में भी सर्वत्र सत्य, धर्म, न्याय और नीति के दर्शन करता है एवं गृहस्थ धर्म के अनुशीलन में तत्पर रहता है। पति और पत्नि मिलकर एक दूसरे के धर्म की रक्षा करें तथा धर्म के आदर्श पर स्वयं को गतिमान रखें—मूल में यही दाम्पत्य जीवन का सदुद्देश्य है।

"पतिं नयतीति पत्निः"

पत्नि शब्द का अर्थ बनता है 'पतिं नयति इति पत्निः' अर्थात् जो पति को अपने साथ लेकर चले वह पत्नि और इसका भावार्थ इसी उक्ति की

गहराई में उतरता है। पति को अपने साथ लेकर चलने का क्या भाव है ? देखा तो यह जाता है कि घर का मुखिया होने के नाते पति का वर्चस्व परिवार में चलता है और सभी सदस्य उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करते हैं। तो फिर क्या पत्नि का स्थान पति से भी ऊपर है।

जो स्त्री की स्वतन्त्रता और समानता की बात करते है, उन्हें भारतीय दाम्पत्य जीवन के आदर्श को हृदयंगम करना चाहिये, जिसमें वस्तुतः पत्नि का नेतृत्व के रूप में स्थान और महत्त्व ऊपर रहा हुआ है। ले जाने वाला ही तो नेता होता है और जो नेता होता है, वह ऊपर और आगे रहता है। पत्नि पर पति को ले जाने का जब दायित्व रखा गया है तो पत्नि पति की नेता ही तो बनती है और जब पति की नेता है तो परिवार की नेता स्वयमेव ही बन जाती है। फिर स्त्री का स्थान सर्वोपरि हुआ या नहीं ?

यह तो मान्य आदर्श स्थिति है, किन्तु आज देखा जाय तो इसका व्यावहारिक पहलू उतना आदर्श नहीं है। वास्तविक व्यवहार में कई दोष समा गये हैं तथा उनके कारण वर्तमान में दाम्पत्य जीवन की अवस्था उतनी प्रेरणास्पद नहीं रहती है एवं पत्नि का स्थान भी उतना माननीय नहीं रहा दिखाई देता है। इस गिरावट को दो दृष्टियों से देख सकते हैं। एक तो सम्पूर्ण समाज में जिस प्रकार से नैतिकता एवं सदाचरण के मूल्य गिरे है तथा व्यवस्था क्रम में विकार बढे है उसके प्रभाव से परिवार भी अछूता नहीं रहा है। इस असर से परिवार में भी अपना अपना सोचने की मनोवृत्ति बनने लगी है तो एक दूसरे के लिये किये जाने वाले त्याग की मात्रा में कमी आई है। दूसरे स्वयं परिवार के सदस्यों का आचरण भी उतना धर्मपरायण एवं कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं रहा है। पारस्परिक कर्त्तव्यों का निर्वाह जब सच्चे मन से नहीं हो पाता है तो सम्बन्धों में एक प्रकार की विश्रृंखलता आ ही जाती है। इसके अलावा धन कमाने और आडम्बर में उसे खर्च करने की लालसा ने भी आपस की सहृदयता को शिथिल बनाया है। कुल मिलाकर परिवार की वर्तमान अवस्था ही सोचनीय बन गई है।

मेरी मान्यता तो यह है कि पत्नि आज भी यदि आगे आकर अपने दायित्वों को निभाये तो इस दुरावस्था से छुटकारा पाया जा सकता है। पत्नि के त्यागमय एवं सर्वप्रिय नेतृत्व की आज फिर परिवार को आवश्यकता हो गई है।

ब्रह्मचर्य पालन के क्षेत्र में पहल

ब्रह्मचर्य सप्ताह के प्रसंग से मैं चाहूंगा कि पत्नि ब्रह्मचर्य पालन के क्षेत्र में पहल करे। इस क्षेत्र में यदि वह अपने आपको बदले और पति को बदले तो पूरे परिवार का सुखद रूपान्तरण किया जा सकता है।

ब्रह्मचर्य पालन की ही पहल क्यों ? इसे समझने के लिए दाम्पत्य जीवन एवं परिवार के वर्तमान पर एक निगाह डालनी होगी। इससे आये हुए दोषों और विकारों को समझने तथा सुधारने का मौका मिलेगा।

दाम्पत्य जीवन और परिवार के ढांचे पर सबसे बुरा असर डाला है नये आर्थिक परिवर्तनों ने। पहले अर्जन का क्षेत्र सीमित था तथा नीतिपूर्ण भी– तो रहना सहना भी सादा और संयम पूर्ण था। अब देश में अर्थव्यवस्था ऐसी चल रही है कि जिनके पास धनार्जन हो रहा है तो वह बेहिसाब है जिसे नम्बर दो का धन कहते हैं। जिन लोगों के नम्बर दो के धन की कमाई है उनके परिवार का रहन सहन एकदम बदल गया है क्योंकि धन का प्रदर्शन और कहाँ किया जाय ? इससे विलासिता के साधन बढ़ गये और फैशन फैल गई। एक वर्ग का यह हाल हुआ किन्तु आडम्बर के कारण दूसरे वर्ग भी अनुकरण करने लगे हैं और फलस्वरूप दुःख पाकर भी सही, अपने रहन सहन को कृत्रिमता के आधार पर ढालने लगे हैं। इस प्रकार सारे समाज में सादगी, संयम और नैतिकता का हास हो रहा है। अब भी इस हास को रोकना है और अपने रहन सहन को सुधारकर पहले के सद्गुणों को फिर से अपनाना और पनपाना है तो उसका तुरन्त प्रभावी एक ही उपाय है तथा इस उपाय को क्रियान्वित करने में पत्नियों को अपनी दायित्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। यह उपाय है कि ब्रह्मचर्य व्रत को ग्रहण किया जाय। यह ऐसा पवित्र व्रत है कि इसे ग्रहण कर लेने के बाद संयम एवं सादगी का जीवन में प्रवेश हो जाता है और काले धन के काले आडम्बर बन्द हो सकते हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत को अपनाने पर पहले तो स्वयं पत्नियों को अपना रहन सहन सुधार कर एवं फैशन सौन्दर्य प्रसाधनों के प्रयोग व विलासितापूर्ण जीवन को छोड़कर सादगी अपनानी होगी और उन्हें अपने परिवर्तन का आदर्श बताकर अपने पतियों को बदलना होगा तथा अपने अन्य परिवार जनों को। मैं तो समझता हूं कि ब्रह्मचर्य व्रत आज के विकारग्रस्त दाम्पत्य जीवन में नई क्रान्ति ला सकता है। यह क्रान्ति मूल्यों की क्रान्ति होगी। नैतिकता के मूल्य तब पुनर्जीवित हो सकेंगे।

कामुकता की नहीं कर्त्तव्य की प्रेरणा

दाम्पत्य जीवन के विलासिता में ढले हुए आज के रूप को देखकर किसी को भी ऐसी प्रतीति हो सकती है कि पत्नियों का काम जैसे कामुकता भड़काना रह गया है। अपनी साज सज्जा और श्रृंगार का तौर तरीका उनके आचरण के सम्बन्ध में अच्छा प्रभाव नहीं डालता है। घर में और बाहर भी उनका पहिनावा और उनका व्यवहार सद्‌गुणों का पोषक कम रह गया है तथा काम वासनाओं को उभारने वाला अधिक। यह रहन सहन और व्यवहार केवल ब्रह्मचर्य व्रत को अपनाने से ही क्रान्तिकारी रीति से बदल सकता है। पत्नियां जब इस रूप से बदलेंगी तो सारा परिवार ही बदलने लग जायगा। संयम की एक नई लहर बह चलेगी।

फलस्वरूप कामुकता के स्थान पर कर्त्तव्य की प्रेरणा फूटने लगेगी। त्याग की बलिदानमय पवित्रता का पुनः संचार हो जायगा। आप तो विजय सेठ और विजया सेठानी का चरित्र जानते हैं। कितना ऐश्वर्य था उसके पास और सुख साधनो की विपुलता थी ! लेकिन क्या उन्होंने अपनी संयमपूर्ण प्रतिज्ञाएँ तोड़ी ? विवाह के बाद पहली ही रात्रि में दोनों पति पत्नि को जब यह तथ्य ज्ञात हुआ कि एक के शुक्ल पक्ष में दूसरे के कृष्ण पक्ष मे ब्रह्मचर्य व्रत पालन के नियम है याने कि दोनों को जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना है तो क्या वे म्लान और शिथिल हुए ? क्या उन्होंने चिन्ता प्रकट की कि वे अपना दाम्पत्य जीवन कैसे चलायेंगे ? वे दोनो चिन्तित नहीं हुए अपितु प्रसन्न हुए। ब्रह्मचर्य पालन के प्रभाव से वे अपने दाम्पत्य जीवन को पवित्र और धर्मानिभूत बना सकेंगे तथा परिवार का समग्र वातावरण भी प्रेरणापूर्ण बना रह सकेगा कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ।

तेजस्वी सन्तान की प्राप्ति

वर्तमान दाम्पत्य जीवन को यदि ब्रह्मचर्य व्रताचरण से सुप्रभावित बना लिया जाय तो भविष्य स्वयमेव समुन्नत बन जायगा। गृहस्थ जीवन में ब्रह्मचर्य के प्रभाव से संयम, सादगी, नैतिकता और धार्मिकता का संचार हो जायगा तो तदनुसार सुसंस्कार वाली सन्तान ही उत्पन्न होगी जिनके जीवन का सुन्दर निर्माण हो सकेगा। सत्य तो यह है ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में जिस प्रकार उच्चता आती जायगी, जीवन व्यवहार में तेजोमयता का प्रसार होने लग जायगा तथा वैसी उत्कृष्ट मानसिकता से होने वाली सन्तान भी तेजस्वी ही होगी।

पर्यावरण सुरक्षा : सर्व जीव सुरक्षा

भगवान महावीर ने सारे संसार को अहिंसामय जीवन का अनुपम सन्देश दिया है कि 'जीओ और जीने दो।' इसका अभिप्राय यह है कि आप इस विधि से जीओ कि दूसरे सभी प्राणी भी अपनी अपनी विधि से जी सकें। पहली बात यह है कि आपका जीना उस सबके जीने में किसी भी प्रकार से बाधक नहीं बनना चाहिये। दूसरी बात यह है कि आप अपने जीने को त्यागमय बनाओ और अन्य सभी प्राणियों के जीने को सुखदायक बनाने में अपना सम्पूर्ण योगदान करो।

इस सन्देश का आधारगत सिद्धान्त है आत्मीय समानता की भावना–सभी आत्माओं में अपने आत्म स्वरूप को देखने की निष्ठा। इससे सभी आत्माओं को अपनी आत्मा के समान समझने की मनोवृत्ति का विकास होता है। सामाजिक सद्भाव एव सहयोग की ऐसी मनोवृत्ति ही मूलाधार है। यह आत्म–समता की भावना अपने साथी मनुष्यों के प्रति सहकार तथा अन्य प्राणियों के प्रति करुणा के रूप में प्रस्फुटित होती है और हार्दिक वृत्तियों को कोमल बनाती है।

हृदय की कोमल वृत्ति ही जीव दया की ओर झुकती है तथा सर्व जीव रक्षा की सत्त्व भावना से अनुप्राणित होती है। ऐसा सहृदय व्यक्ति यह अनुभव करता है कि किसी भी अन्य प्राणी को दुःख न हो और जहाँ भी दुःख दिखाई दे, वहीं वह उस दुःख का निवारण करने के काम में प्रयत्नशील हो जाय। अपने जीवन में वह सर्व जीव रक्षा को अपना उद्देश्य बना लेता है और जहां कहीं जीवों की हिंसा हो रही हो, उसे रोकने तथा प्राणियों के प्राणों को सुरक्षित तथा निर्भय बनाने की दिशा में वह कर्मनिष्ठ बन जाता है। 'जीने दो' का वह इतना ही अर्थ नहीं लेता कि वह उनके जीने में अपनी ओर से कोई बाधा नहीं

डाले, बल्कि वह उसका व्यापक अर्थ लेता है कि प्राणियों को जीने में दूसरों के द्वारा भी जो बाधाएं आ रही हों, उनके निवारण का भी वह प्रयत्न करे। सर्व जीव संरक्षण का पुण्य कार्य अवश्य ही कठिन और त्यागमय होता है और इस कारण परम सराहनीय भी होता है।

पर्यावरण : सुरक्षा का कवच

पहले यह जान लें कि पर्यावरण क्या होता है ? पर्यावरण का शाब्दिक अर्थ है. चारों ओर से घिरा हुआ आवरण। इस बाह्य वातावरण में भूमि, जल, वनस्पति और वायु के तत्त्वों से मिली हुई ऐसी परतें बनी हुई होती हैं, जो मनुष्यों की ही नहीं, अन्य सभी प्रकार के प्राणियों की जीवन रक्षा करती हैं। वे तत्त्व सम्पूर्ण वायुमण्डल को सभी के सुखपूर्वक जीने में सहायक बनाये रखते हैं। एक प्रकार से पर्यावरण को मनुष्यों सहित सभी प्रकार के जीवों की सुरक्षा का एक कवच कह सकते हैं, जो यदि शुद्ध बना रहता है तो कई तरह की सुरक्षा प्रणालियों को सक्रिय बनाये रखता है। यही पर्यावरण यदि प्रदूषित हो जाता है या बना दिया जाता है तो सूक्ष्म जीवों की महान् हिंसा के साथ मनुष्यों एवं पशु पक्षियों के लिये भी परम कष्टदायक बन जाता है। आम दृष्टि से पर्यावरण के शुद्ध होने को अर्थ किया जाता है कि हरे भरे जंगल बने रहें, और कोई वृक्षों का विनाश न करे। नदियों या अन्य जल स्थानों का जल स्वच्छ एवं सेवन योग्य हो, उसमें मल प्रवाह न किया जाय। वायु के प्राकृतिक प्रवाह में धुआं-धूल के रूप में गन्दगी न बहाई जाय तथा सबके स्वस्थ श्वसन हेतु उसका शुद्ध रूप यथावत रखा जाय।

शुद्ध पर्यावरण के माध्यम से एक ओर तो पृथ्वी, वनस्पति, जल, वायु आदि के सूक्ष्म जीव स्वतः सुरक्षित रहते हैं तो दूसरी ओर मनुष्य तथा उसके साथ रहने वाले अथवा वन प्रान्तर में मुक्त विचरण करने वाले पशु पक्षी व अन्य प्राणी शुद्ध पर्यावरण की विद्यमानता से स्वस्थ रहते हैं। इस प्रकार उनके प्राणों की भी रक्षा होती है। इस दृष्टि से पर्यावरण की शुद्धता को बनाये रखने की जो वृत्ति होनी चाहिये, वह दयापूर्ण कोमल हृदय से ही फूट सकती है और सर्वहित को सर्वोपरि रख सकती है।

पर्यावरण-प्रदूषण कैसे ?

पर्यावरण की शुद्धता का प्रदूषण कैसे होता है– उसके कारणों को जाने बिना प्रदूषण निवारण के उपाय फलीभूत नहीं हो सकते हैं। पर्यावरण का

प्रदूषण दो प्रकार से होता है—एक तो स्वयं प्रकृति द्वारा और दूसरा मनुष्यों के द्वारा।

प्रकृति द्वारा विभिन्न प्रकार के पर्यावरणों की शुद्धता को जो क्षति पहुंचती है, उनकी पूर्ति स्वयं प्रकृति करती है। इतना ही नहीं, मनुष्य द्वारा सामान्य रूप से फैलने वाले प्रदूषणों का परिष्कार भी प्रकृति करती है। उदाहरण के लिये किसी अंधड़ या दावानल से सघन वन का कोई भाग नष्ट हो जाता है तो वर्षा फिर नये वृक्षों को पल्लवित करती है और वन की सघनता को फिर से बनाती है। वनों की सघनता बनाये रखने का सुप्रभाव वर्षा और कृषि भूमि की उर्वरा शक्ति पर पड़ता है, जिसका मुख्य लाभ मनुष्य ही लेता है। इसी प्रकार वायु प्रवाह में जो भिन्न-भिन्न कण और कीटाणु आदि फैल जाते हैं, उनकी शुद्धि वर्षा की धाराओं से हो जाती है, और शुद्ध बनी वायु पुनः श्वासचारियो की सहायक बनती है। जल-धाराओं का प्रदूषण भी वर्षा के वेग से दूर हो जाता है। प्रकृति अपने स्तर पर पर्यावरण निर्माण, उसकी शुद्धता की रक्षा तथा प्रदूषण निवारण का कार्य यथाविधि करती रहती है।

किन्तु यह मनुष्य है जो प्रकृति के काम में बाधक ही नहीं बनता है बल्कि प्रकृति के काम को बुरी तरह से बिगाड़ता भी रहता है और अपने व अन्य प्राणियो के स्वस्थ जीवन के लिये संकट उत्पन्न करता रहता है। पर्यावरण प्रदूषण में मनुष्य का बहुत बड़ा हाथ है और उसने अपनी अनियंत्रित प्रवृत्तियों से पर्यावरण को सीमा बाहर प्रदूषित बना दिया है कि अब उसका पूर्ण संशोधन संभव नहीं दिखाई दे रहा है। संकट को देखते हुए अब वह प्रदूषण-निवारण के काम में सक्रिय तो बना है लेकिन सभी प्रकार के प्रदूषण की व्यापकता आज भयावह हो उठी है।

मनुष्य ने भूमि का प्रदूषण बढ़ाया है हरे भरे जंगलों को बेरहमी से काटकर तथा वनस्पति काया के जीवो की अपार हिंसा करके। आश्चर्य तो यह है कि जंगलो की यह बेरहम कटाई निर्वाह हेतु ईंधन के लिये नहीं, बड़े बड़े मुनाफाखोरो द्वारा अपनी अवैध आय के लिये की जाती है और इस प्रवृत्ति के विरुद्ध न जाने क्यों सरकार कड़ा रुख नहीं अपनाती है ? एक वृक्ष काटना भी महापाप का कारण होता है, जहां पर अनगिनत वृक्षों की कटाई कितनी हिंसक बन गई है ? जंगल, वृक्षों और पेड़ पौधो के विनाश से कई हानियां हो रही हैं। अनेक पशु पक्षियों की भी हिंसा होती है और उनके आवास, जल-साधन आदि नष्ट हो जाने से वे बुरी तरह से कष्टित हो जाते हैं। वनस्पति के अभाव में

स्वयं मनुष्यों का स्वास्थ्य भी बिगडने लगता है क्योंकि मनुष्य जो गन्दी हवा छोड़ता है उसे पेड़ पौधे ग्रहण करते हैं तथा वापिस ये पेड़ पौधे जो हवा छोड़ते हैं वह प्राण वायु होती है जो मनुष्य की जीवन रक्षा करती है। पेड़ों की अंधाधुंध कटाई से वायुमंडल में गन्दी हवा बढ़ रही है और प्राण वायु की कमी हो रही है। वनस्पति के जीवों की इस हिंसा से पृथ्वी काय के जीवों की हिंसा हो रही है क्योंकि अधिकाधिक कृषि भूमि अपनी उर्वरा शक्ति खोकर बंजर होती जा रही है। इसका सीधा बुरा प्रभाव मनुष्य एवं अन्य प्राणियों की जीवन रक्षा पर अन्नाभाव के कारण पड़ता है।

जल और वायु का प्रदूषण

मनुष्य अपनी स्वार्थान्धता में जल और वायु को भी बुरी तरह से प्रदूषित करता है। जल के प्रदूषण को जानने के लिये एक गंगा नदी का ही उदाहरण लें। गंगा जल को पवित्र मानते हुए भी पास के बड़े बड़े शहरों के गन्दे गटर, मनुष्यों व पशुओं के मृत शरीर तथा दूसरा सभी तरह का कचरा गंगा में बहाते हुए मनुष्य कभी संकोच नहीं करता है। सभी उपयोगी नदी नालों का ऐसा ही बुरा हाल बना हुआ है। इस औद्योगिकरण के जमाने में तो फैक्टरियों से ऐसे रसायन जल प्रवाही में डाले जाते हैं कि वह पानी भयंकर बीमारियां फैलाने वाला बन जाता है। इस प्रदूषण से जल के जीवों तथा अन्य जलचरों की कितनी भारी हिंसा होती है–इसका लेखा जोखा लेने वाले नहीं है।

इसी प्रकार वायु का प्रदूषण भी अविचारपूर्वक किया जा रहा है। यह प्रदूषण मुख्यतः कल कारखानों की वजह से हो रहा है। ऊंची ऊंची चिमनियों से उड़ने वाला गन्दा धुआं और धूल इतनी मात्रा में वायु में मिश्रित होते हैं कि वायु मंडल के प्रदूषण का निवारण दुष्कर बनता जा रहा है। इस प्रदूषण से एक ओर तो वायु के जीवों का महाविनाश होता है तो दूसरी ओर प्रदूषित वायु अनेकानेक व्यक्तियों व प्राणियों के श्वासोश्वास में प्रवेश पाकर उनके प्राणों का हनन कर रही है। कारखानों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है और प्रदूषण भी उंसी मात्रा में भयंकर बनता जा रहा है किन्तु उसके शुद्धिकरण के उपायों पर क्या काम हो रहा है–इसकी जानकारी सर्वसुलभ नहीं है।

प्रदूषण-निवारण

पर्यावरण के प्रदूषणों का निवारण तथा ऐसी स्थायी व्यवस्था जिससे कि प्रदूषण निवारण का काम दुःसाध्य या असाध्य न हो–आज की प्रमुख आवश्यकता हो गई है क्योंकि इससे ही सर्व जीवों की हिंसा दूर करने तथा

उनकी रक्षा करने का उपाय किया जा सकता है।

यह प्रशासन तन्त्र की चुस्ती का सवाल है कि किन्हीं व्यक्तियों की स्वार्थवादिता के कारण हो रहे पर्यावरण के प्रदूषणों को कड़ाई से रोके ताकि उनके कारण हो रही असंख्य अनंत जीवों की हिंसा भी रुक सके और उनके प्राणों का समुचित संरक्षण किया जा सके।

यह धार्मिक आस्था का ही प्रश्न नहीं है बल्कि यह वैज्ञानिक सत्य भी है कि हरे वृक्षों याने कि सकल वनस्पति में जाना है, उनको कटवाना अथवा उनके फल, फूल पत्तियों को उखाड़ना हिंसा है और हिंसा कभी धर्म नहीं होती। अपने प्राणों की जब हम रक्षा करना चाहते हैं तो क्या उन प्राणियों का रक्षण करना हमारा दायित्व नहीं है ?

यह गंभीर रूप से विचारणीय स्थिति है। मनुष्य स्वयं तो जीना चाहता है, परन्तु अशक्त और पराश्रित प्राणियों को जीने देना नहीं चाहता अथवा उनके जीवन–रक्षण के आवश्यक कार्य नहीं करता–क्या यह लज्जाजनक नहीं है ? और यह तो पापमूलक है कि उसकी यतना और सावधानी में कमी होने से इतने जीवों की हिंसा का समारंभ हो रहा है।

पर्यावरण को शुद्ध बनाने व बनाये रखने तथा सभी प्रकार के प्रदूषणों का निवारण करने के लिये अहिंसात्मक उपाय किये जाने चाहिये। जल और वायु को प्रदूषित बनाने वाले अधिकतर वैकल्पिक व्यवस्था के अभाव में ऐसी असावधानी बरतते हैं अथवा अपने उद्योगों के विस्तार के आवेग में जीव हिंसा और प्रताड़ना के इस पाप कार्य से अपनी आंखें बन्द कर लेते हैं। प्रशासन का कर्त्तव्य है कि सभी वर्तमान तथ्यों का विश्लेषण किया जाय तथा जीव रक्षा वाली ऐसी पद्धतियों का विकास किया जाय जिनसे प्राणों का हनन और कष्ट न हो।

जीव रक्षा के लिए आप भी सन्नद्ध हों

(3) पानी का अनावश्यक व्यय भी न करें तथा दुरुपयोग तो कतई न करे जिससे कि वह हिंसापूर्वक प्रदूषित हो।

(4) भोजन के उपरान्त जूठन छोड़ने का त्याग लेवें क्योंकि यह जूठन जब इकट्ठी होकर सड़ती है तो जीवोत्पत्ति का तथा प्रदूषण का कारण बनती है।

(5) वायुमंडल को प्रदूषित बनाने वाले उद्योग धंधों से बचें तथा जंगल कटवाने आदि के ठेके तो कतई न लें। अपने को प्रदूषण और उसके पश्चात् की अपार हिंसा के भागी न बनावें।

(6) पर्यावरण प्रदूषण मुक्ति के कार्यों में अहिंसात्मक रीति से जितना आप सहयोग दे सकें, आपको सहयोगी बनना चाहिए।

(7) अपने प्रतिदिन के कार्यों में आपको यह सावधानी बरतनी चाहिये कि आप किसी प्रकार के पर्यावरण प्रदूषण को नहीं बढ़ा रहे हैं।

(8) पन्द्रह कर्मादानों का सर्वथा त्याग करें। क्योंकि ये महापाप के कई भंडार हैं। इनसे सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्तर की क्षतियों की बहुलता होती है। साथ ही इनसे मनुष्य वध, मानव शोषण, पशुओं की जीवनी शक्ति का ह्रास होता है इसलिये ये श्रावक के लिये वर्जनीय हैं। ये सभी महापाप कई बन्धन के कारण रूप होने से इहलोक और परलोक दोनों को बिगाड़ने वाले तथा भव भ्रमण कारक हैं।

"जीओ और जीने दो" का मर्म समझें

भगवान महावीर द्वारा उपदेशित अहिंसा की सूक्ष्मता को समझने की जरूरत है, तभी 'जीओ और जीने दो' की उक्ति का मर्म स्पष्ट हो सकेगा। यह ध्यान में रहे कि पंचेन्द्रिय या बड़े जीव तो कई बार अपनी जीवन रक्षा स्वयं भी कर लेते हैं किन्तु छोटे जीवों की रक्षा का भार तो विवेकशील मनुष्य को उठाना होता है। आप देखते हैं कि वायुकाय के जीवों की रक्षा के लिये आपके सन्त मुनिराज अपने मुख पर मुख वस्त्रिका धारण करते हैं तो यह अहिंसा धर्म की करुणा ही तो है। क्या आपका कर्त्तव्य नहीं बनता कि आप भी सर्वत्र अहिंसा धर्म की करुणा को अपनावें, यथाशक्ति छोटे बड़े जीवों की रक्षा के उपाय करें तथा सच्चे अहिंसक कहलावें।

आज के हिंसा से संत्रस्त वातावरण में 'जीओ और जीने दो' की उक्ति के मर्म को आत्मसात करने तथा उसे चरितार्थ करने से बड़ा दूसरा कोई कर्त्तव्य नहीं।

2

मानवीय मूल्यों के प्रतीक : संविभाग एवं सदुपयोग

शुद्ध पर्यावरण की सबके लिए समान रूप से आवश्यकता होती है, क्योंकि पर्यावरण की शुद्धता सभी प्राणियों के ही नहीं, उन तत्त्वों के लिए भी प्राणदायक होती है जो प्राणियों के प्राणों को संरक्षण देते हैं। यदि पर्यावरण न्यून रूप से प्रदूषित होता है तो वह स्थिति चिन्तनीय नहीं बनती है क्योंकि प्रकृति अपनी क्रमिक प्रक्रिया में उसका शुद्धिकरण कर देती है। किन्तु अत्यधिक अशुद्धता से जब सभी प्रकार का पर्यावरण बुरी तरह प्रदूषित हो जाता है, तब उसका दुष्प्रभाव सभी के लिए हानिकारक एवं कष्टकारक बनता है जो छोटे जीवों सहित अनेक प्राणियों की दुःखद हिंसा का प्रसंग भी उपस्थित करता है।

पर्यावरण की शुद्धता अथवा अशुद्धता संसार को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकती है। पृथ्वी, वायु, जल, वनस्पति आदि की स्थिति रूप आवरण एक प्रकार से सारी धरती और आकाश को घेरे रहती है और इसके घेरे में मनुष्य आदि सभी प्राणी आ जाते हैं, जो पर्यावरण से [illegible] होते हैं। पर्यावरण का प्रदूषण सर्वत्र एक समान हो, यह आवश्यक नहीं है। जिस क्षेत्र अथवा भू भाग में पर्यावरण [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

पर्यावरण रक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी होता है कि वनस्पति, जल, वायु, पृथ्वी तथा उनके उत्पादनों की गुणवत्ता का श्रेष्ठ स्तर बनाये रखा जाय, जिसके कारण सूक्ष्म एवं स्थूल सभी प्राणियों के प्राणों का पोषण यथावत रीति से होता रहे।

जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं

अन्न, जल और वायु–ये तीन तत्त्व जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के रूप में बताए गये हैं। ये तीनों तत्त्व प्रकृति की देन होते हैं किन्तु तीनों की परिस्थितियां भिन्न भिन्न रहती हैं। सम्पूर्ण वायु मनुष्य के सीधे अधिकार से स्वतंत्र होती है। उसका संचरण प्रकृति के राज्य में चलता है, लेकिन जल प्रत्यक्ष पदार्थ होता है। अतः मनुष्य के अधिकार–योग्य भी। तब भी जल सबको सुलभ हो ऐसी–प्रकृति की व्यवस्था होती है। किन्तु अन्नोत्पादन का कार्य पूरी तरह मनुष्य के अधिकार में होता है। फिर भी जीवन के इन तीनों मूलभूत आवश्यक पदार्थों को किसी न किसी रूप में मनुष्य ने अपने नियंत्रण में किया है। नियंत्रण का उद्देश्य तो यह रहा कि तीनों मूलभूत आवश्यकताएं समान रूप से न हो सकें तब भी यथोचित रीति से सबकी पूरी हो सकें। परन्तु नियन्त्रण के व्यावहारिक रूप ने यह दिखा दिया है कि उससे भी सर्वहित की अपेक्षा स्वार्थपूर्ति अधिक की गई और प्रदूषण उसी का दुष्परिणाम है।

इस नियन्त्रण का क्रम यदि सही तरीके से चलता तो अन्न के अधिक उत्पादन के लक्ष्य के साथ उसके सबमें सही वितरण की भी व्यवस्था होती तथा अन्न के दुरुपयोग को अक्षम्य समझा जाता। अल्प व अधिक जल प्राप्ति के क्षेत्रों के बीच सन्तुलनात्मक प्रबंध किये जाते तथा जल की बरबादी रोकी जाती। वायु के वितरण का प्रश्न नहीं था किन्तु उसकी शुद्धता को प्रदूषित होने से रोका जाता। इसके साथ ही अन्न, जल की विपुलता पर बुरा असर डालने वाली वन, वृक्ष तथा वनस्पति के विनाश की प्रवृत्तियों पर कड़ा अंकुश लगाया जाता। इस दिशा में जितने आवश्यक अहिंसात्मक उपाय किये जाने चाहिए थे, उनकी तरफ शायद लक्ष्य शिथिल रहा। इसके कारण उन स्वार्थी लोगों को जीव हिंसा करने तथा पर्यावरण को प्रदूषित बनाने का मौका मिल गया, जिनके मन में प्राणियों के प्राण–रक्षण की करुणा का निवास नहीं होता बल्कि अपने क्रूर स्वार्थों को पूरे करने की राक्षसी वृत्ति होती है। ऐसे ही दुष्प्रयत्नों से प्रदूषण बढ़ता गया है और फलस्वरूप अन्न जल की पर्याप्तता में भी अभावजन्य स्थिति बनती जा रही है। वन, वृक्ष और वनस्पति के हिंसात्मक

विनाश से वर्षा में कमी आने से जल के स्रोतों में अल्पता आई है तो पृथ्वी पर पड़े कुप्रभाव से अन्नोत्पादन को हानि पहुंची है। अन्न और जल की अभावात्मक स्थिति तब तक विषम रूप लेती रहेगी, जब तक पर्यावरण के प्रदूषण को दूर करके उसे शुद्ध न बना दिया जाय तथा उसे शुद्ध बनाये रखने के सही प्रबन्ध न कर लिए जायं।

आज तो पर्यावरण में फैले प्रदूषणों की अधिकता से जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति ही खतरे में पड़ गई है तथा अन्न, जल आदि के संविभाग और सदुपयोग की ही समस्या सामने आ गई है।

अन्न और जल प्राण क्यों ?

अन्नं वै प्राणा. जलं वै प्राणाः—अन्न ही प्राण है, जल ही प्राण है, इसलिए अन्न और जल का सदुपयोग करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। उनको बर्बाद करना अथवा उनका दुरुपयोग करना धार्मिक एवं नैतिक अपराध है। इन अपराधों से बचना और बचाना प्रत्येक इन्सान का प्राथमिक धर्म है।

अन्न और जल को प्राण क्यों कहा है ? इसका यही कारण है कि ये तत्त्व प्राणों के रक्षक हैं और प्राणों के रक्षक तत्त्वों को प्राण की संज्ञा देना क्या अनुचित कहा जायगा ? वस्तुतः अन्न, जल हैं तभी तो जीवन है और जीवन है तो धर्म–साधना भी है तथा आत्मा के चरण लक्ष्य की पूर्ति की अभिलाषा भी। तो ऐसे अन्न–जल को प्राण क्यों न कहें ?

किन्तु केवल प्राण कह देने से अर्थ पूरा नहीं होता है, उन प्राणों के सदुपयोग की समस्या आज सर्वाधिक विचारणीय है। जो अपनी धन आदि की शक्तियों के कारण अन्न और जल इच्छित मात्रा में सुलभ कर सकते हैं, क्या उन को इस बात की पूरी सावधानी है कि वे अपने अन्न और जल का कितना सदुपयोग करते हैं या सही आलोचना का विषय है कि वे अन्न और जल का कितना दुरुपयोग करते हैं ? यदि यह हकीकत मन में भली–भांति उतर जाती है तो क्या ऐसा कभी हो सकता है कि प्राणों का दुरुपयोग करने की वृत्ति तक पैदा हो ? अन्न व जल को प्राण कहते हैं परन्तु यथार्थता में वैसा मानते नहीं हैं, तभी तो उनका दुरुपयोग करने की असावधानी बरती जाती है।

आप तो जानते हैं कि झूठन को छोड़कर भोजन की अन्य प्रकारों से बर्बादी करके अन्न प्राणों का कितना निरादर किया जाता है ? जल के सूक्ष्म जीवों की हिंसा का भी विवेक न रख कर उसकी निरर्थक बर्बादी की जाती है,

वह भी जल प्राणों का दुरुपयोग ही कहा जायगा। इस प्रकार अन्न, जल आदि का दुरुपयोग सिर्फ नैतिक या राष्ट्रीय ही नहीं, धार्मिक अपराध भी कहा जायगा, क्योंकि वह हिंसा का कारणभूत बनता है तथा जीव रक्षा के दया भाव को नष्ट करता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपना पहला और पवित्र कर्त्तव्य मानना चाहिए कि वह अन्न व जल के दुरुपयोग से स्वयं बचे, दूसरों को बचावे तथा इन प्राणों के अधिकतम सदुपयोग का विवेक और प्रयत्न रखे।

संविभाग की ज्वलन्त समस्या

अन्न, जल के सदुपयोग के साथ उनके संविभाग की ज्वलंत समस्या भी जुड़ी हुई है। संविभाग शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि इस समस्या के दोनों पहलुओं को समझने की जरूरत है। पहला पहलू यह है कि अन्न जल का वितरण धनी, गरीब सब को किया जाय किन्तु ऐसे वितरण में सफलता तभी मिल सकती है जब अपनी धन–सत्ता की शक्ति से इच्छित मात्रा में अन्न, जल को सुलभ कर सकने वाले लोग उनका कतई दुरुपयोग न करें तथा सदुपयोग की पूरी सावधानी रखें। दूसरा पहलू यह है कि सबको अन्न, जल का विभाग मिले किन्तु वह सम याने बराबर भी हो। इसी का नाम संविभाग होता है। विभाग के बाद संविभाग की समस्या का समाधान भी आवश्यक है।

भगवान महावीर तो मानव मूल्यों की ऐसी क्रांतिकारिता में सबसे आगे रहे हैं। यह संविभाग अर्थात् सम + विभाग का प्रयोग उन्हीं का है। उन्होंने ही सबसे आगे बढ़कर अन्नादि सामग्री का ही नहीं, सम्पूर्ण अर्जन के संविभाग का निर्देश दिया है। प्रश्न व्याकरण सूत्र (अ. 2, गा. 3) में कहा गया है–

''असंविभागी, असंगहरूई.......अप्पमाण

भोई से तारिसए नाराहए वयमिणं।''

अर्थात् जो असंविभागी है, प्राप्त सामग्री आदि का ठीक तरह से वितरण नहीं करता, असंग्रह रुचि है– साथियों के लिये समय पर उचित सामग्री का संग्रह कर रखने में रुचि नहीं रखता, अप्रमाण भोजी है–मर्यादा से अधिक भोजन करने वाला पेटू है, वह अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना नहीं कर सकता।

आगे यहाँ तक कह दिया गया है कि–

''असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।''

अर्थात् जो संविभागी नहीं है और प्राप्त सामग्री का सम–वितरण नहीं करता है, उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।'

महावीर प्रभु के भव्य वचनों के संदर्भ में वर्तमान व्यवस्था का क्या
रूप है ? सम की बात छोड़ें, क्या वितरण या विभाग का सद्विचार भी
धिक अर्जन करने वाले लोगों के मन में है ? अन्य सामग्री को भी छोड़े, क्या
नके पास आवश्यकता से अधिक संग्रहित अन्न आदि का भी जरूरतमन्द
गों में वितरण करने की भावना भी बनती है ? फिर प्रभु की आज्ञा का पालन
से किया जाता है ? यदि फिर भी असंविभागी बने रहते हैं तो व्रत की
लना भी सम्यक् नहीं मानी गई है तथा मोक्ष का द्वार भी बन्द रहेगा।

समस्याएं नहीं सुलझेंगी तो.......?

अन्न, जल के सदुपयोग तथा सम को नहीं सोचा गया तो यथोचित
तरण की समस्याएं कैसे सुलझेंगी—यह दूर दृष्टि से सोचने की बात है।

अन्न और जल प्राण हैं और प्राणों की सबको समान रूप से आवश्यकता
ती है तो इस तथ्य को न्यायपूर्ण कैसे मान सकते हैं कि किसी एक व्यक्ति
पास हजारों लोग खा सकें—उतना अन्न संग्रहित रहे और हजारो लाखों
गों के पास एक से दूसरे वक्त तक का पर्याप्त अन्न न हो ? एक व्यक्ति
जारो लोगों को मिष्ठान्न आदि का भोज देकर अपने धन का प्रदर्शन करने
क्षमता रखता हो और दूसरा व्यक्ति अपनी पत्नि और अपने आत्मजों को
खी रोटी खिला सकने से भी विवश हो—क्या ऐसी भयंकर विषमता सहन की
ती रहेगी ? यह भी छोड़ें, किन्तु अन्न प्राण के विषय में यह असंविभागी
वृत्ति क्या भगवान महावीर के अनुयायी कहलाने का किसी को अधिकार
ती है ?

इस समस्या को सरल मानकर नहीं चला जाना चाहिए। कोई कार्य
त् न हो—उसके पहले ही न्याय और नीति की बात सोच ली जानी चाहिये
था तदनुसार उसका कार्यान्वयन भी कर देना चाहिये।

तत्काल में अन्न—जल के सदुपयोग के प्रश्न पर तो ध्यान देकर
पयुक्त कार्यविधि निर्धारित कर ही लेनी चाहिये। इसका दोहरा लाभ मिलेगा।
क ओर अभावग्रस्तों की समस्या का समाधान निकलता है तो दूसरी ओर
पयोगजन्य हिंसा के पाप से बचत हो जाती है। यह ध्यान में रखने की बात
कि सभी को जीने का अधिकार है और ये अधिकार उन्हें देना पड़ेगा। यदि
च्छापूर्वक ऐसा नहीं किया जाता है तो कौन जाने कि जिनको जो
धिकार है उसे वे स्वयं ले लेने के लिए उतारू हो जाय। वैसे भी जीवन के
र्वोपरि इस सिद्धान्त को सभी अपने आचरण में उतारें कि जीओ और जीने

दो तो वह श्रेष्ठ आचरण ही होगा।

मानवीय मूल्यों का मान करें

हमको जैसे अपना जीवन प्रिय है वैसे ही सभी मनुष्यों, प्राणियों एवं जीवों को भी अपना जीवन प्रिय होता है। अतः किसी के भी जीवन के बीच में अप्रिय व्यवधान खड़े नहीं किये जावें और सबके जीवन को प्रियकारी एवं सुखकारी बनाने में अपने जीवन के सुख का भोग भी देना पड़े तब भी वैसा किया जाय—इसे मानवीयता का स्तर कहा जाता है। सर्व जीव रक्षा एवं मानव कल्याण के सम्बन्ध में ऐसी वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ जब बलवती बनती हैं तब मानवीय मूल्यों की निर्मिति होती है और समाज द्वारा निरन्तर आचरण के बाद उनकी प्रस्थापना होती है।

अतः सदाचरण साध्य जो मानवीय मूल्य यहां की संस्कृति में प्रतिष्ठित हैं, सबको उनका मान करना चाहिए तथा मानवता एवं प्राणी रक्षा के व्यापक हित में अपने आचरण को बदलना एवं ढालना चाहिये।

3

प्रदूषण-मुक्ति—बाहर से भीतर तक

जब भी कोई सत् सिद्धान्त या सुविचार किसी महान् विभूति के अनुभव-जन्य ज्ञान से निःसृत होता है अथवा समाज की श्रेष्ठ धारणाओं एवं परम्पराओ से प्रतिष्ठित होता है, तब उसका स्वरूप पूर्ण रूप से शुद्ध होता है। यों सत् सिद्धान्त और विचार तो सदा शुद्ध ही रहता है किन्तु उसके टीकाकार, उपदेशक या समर्थक कई बार किन्हीं व्यक्तिगत या समूहगत स्वार्थो के पीछे उस शुद्धता को प्रदूषित कर देते हैं अथवा व्यवहार के काल क्रम में भी उसके प्रति शिथिलता की वृत्ति बन जाती है जिससे उसकी शुद्धता के साथ कार्यान्वय के दोष जुड जाते हैं। यह परिवर्तन प्रदूषण युक्त होता है अतः फिर समय आने पर प्रबुद्ध व्यक्तित्व की प्रभावशीलता से उसका संशोधन एवं परिमार्जन किया जाता है तथा उस सिद्धान्त या विचार को उस प्रदूषण से मुक्ति मिलती है। यह पुरुषार्थजन्य प्रक्रिया होती है।

जैसा सिद्धान्त या विचार का प्रश्न है वैसी ही अवस्था मनुष्य के मन की भी होती है। किसी नये कार्य अथवा आचरण के प्रारम्भ के समय मन की जैसी लगन और उमंग होती है वैसी पूरे समय तक बनी रहे— ऐसा विरले पुरुषो में ही देखने को मिलता है। अधिकतर लोगों का मन तो जल्दी ही शान्त एवं शिथिल हो जाता है और मन की ऐसी दुर्बलता ही सफलता को कठिन बना देती है। किन्तु मन की गति वैसी श्लथ और शिथिल बनी रहे, यह कोई जरूरी नहीं है। शिथिलता और निष्क्रियता को मन का प्रदूषण ही तो कहेंगे और जो भी प्रदूषण होता है, समुचित पुरुषार्थ से उसका निवारण किया जा सकता है। निराशा की कोई बात नहीं होती।

यही स्थिति पर्यावरण के प्रदूषण की भी होती है तथा निवारण का प्रयत्न उससे मुक्ति के लिये भी लगे, तब उसको भी सफलता मिल सकेगी।

वस्तु विषय के साथ जिस किसी कारण से जो विकार आ जाता है, उसे समझकर यदि मनुष्य समय पर उसके संशोधन का प्रयास कर ले तो वह शुद्धिकरण उसके जीवनोन्नयन का कारण बन जाता है।

प्रदूषण : बाह्य और आन्तरिक

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रदूषण चाहे बाहर के पर्यावरण में आवे या मन के पर्यावरण में—सहन नहीं किया जाना चाहिये तथा उसके शुद्धिकरण के यथासाध्य शीघ्र प्रयत्न करने चाहिये ताकि समग्र रूप से वायुमंडल की प्रदूषण मुक्ति अन्ततोगत्वा आत्म—विकास को प्रेरित कर सके। बाह्य और आन्तरिक पर्यावरण पृथक् नहीं होते—वे एक दूसरे को अपनी शुद्धता अथवा अशुद्धता से तदनुसार अवश्यमेव प्रभावित करते हैं तथा जीवन निर्माण को ढालते हैं।

इस समय बाह्य प्रदूषण पर विशेष रूप से विचार किया जा रहा है तथा पर्यावरण का विषय संदर्भित है। पर्यावरण को प्रदूषण से बचाया जाय, यह प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति का कर्त्तव्य है क्योंकि उससे प्राणी एवं जीव रक्षा का सत्कार्य सम्पन्न होता हैं। समझिये कि आप वनस्पति काया के सूक्ष्म जीवों की रक्षा आस्थापूर्वक करना चाहते हैं और सदिच्छा से वन, वृक्ष और वनस्पति काटने—कटवाने के विरुद्ध विशेष प्रयास करते हैं या अभियान तक चलाते हैं तो वह कार्य असहाय जीव रक्षा से सम्बन्धित होने से करुणामय अनुष्ठान ही होगा। वनों की इस प्रकार हानिकारक कटाई रोकी जा सकती है तो विस्तृत करुणा के कार्य भी पूरे हो सकते हैं। वनों की कटाई न हो तो वृक्षों की सघनता बनी रहेगी जिससे न जाने कितने पशु पक्षियों को आवास सुलभ हो सकेंगे, या कि कितने ही यात्री उनकी शीतल छाया से शान्ति का अनुभव ले सकेंगे। वनों की सघनता से कृषि योग्य भूमि की उर्वरा शक्ति नहीं घटेगी तो अधिक अन्नोत्पादन से कितने प्राणों की रक्षा की जा सकेगी। उसी कारण वर्षा का अनुपात ठीक रहने से जल स्रोतों की बहुलता से अन्न, जल रूप प्राणों की कितनी अभिवृद्धि हो सकेगी ? इतना ही नहीं, विकासशील वन, वृक्ष और वनस्पति कितने मनुष्यों और पशु पक्षियों के फेफड़ों में प्राण वायु का संचार करके उन्हें सुस्वास्थ्य प्रदान करेंगे ?

ये तो केवल पर्यावरण की प्रदूषण—मुक्ति के ही लाभ हैं। प्रदूषण—मुक्ति की दृष्टि से बाह्य वातावरण के कई तत्त्वों को लिया जा सकता है। मनुष्य का स्वयं का बाहरी जीवन तो है ही, किन्तु सम्पर्कगत कई क्षेत्रों तथा वस्तु विषयों

के प्रदूषण का प्रश्न भी रहता है। इनमें परिवार, ग्राम, नगर, समाज, राष्ट्र या सकल विश्व की बात एक ओर है तो राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक आदि कई क्षेत्र दूसरी ओर हैं, जिनके कार्य संचालन में दोष-प्रदोष एकत्रित होते रहते हैं और उनसे मुक्ति का प्रश्न सामने रहता है।

आन्तरिकता का प्रमुख सम्बन्ध मनुष्य के मन से होता है। बाह्य जगत् में इस जीवन का संचरण होता है, उसके कार्यकलापों में शरीर, उसकी इन्द्रियों और स्वयं मन की प्रवृत्ति चलती रहती है। मन ही एक प्रकार से सबों को चलाता है। मन की सक्रियता के कारण बाहर से भीतर और भीतर से बाहर प्रदूषण का क्रम भी चलता रहता है तो प्रबुद्धता के क्षणों में प्रदूषण मुक्ति का पुरुषार्थ भी क्रियाशील बना रहता है।

बाह्य प्रदूषणों से मुक्ति कैसे ?

पर्यावरण-प्रदूषण से मुक्ति पाने के उपायों पर विचार किया गया है। भांति भांति के अन्य बाह्य प्रदूषणों से मुक्ति पाने की कार्यविधि पर सोचने से पहिले व्यक्ति और समाज के स्वरूप, संगठन तथा प्रभाव पर तनिक विचार कर लेना आवश्यक है।

व्यक्ति से समाज का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं होता है और वस्तुतः व्यक्ति व्यक्ति मिल कर ही तो विभिन्न प्रकार के समूहों का निर्माण करते हैं तथा समूहों का समूह ही समाज कहलाता है। फिर भी मनुष्य की व्याख्या करते समय उसे प्रधान रूप से सामाजिक प्राणी कहा जाता है क्योंकि समाज की रचना की क्षमता समस्त प्राणियों में केवल मनुष्य की ही होती है जो उसका व्यवस्थित रूप से संगठन करता तथा प्रबन्ध चलाता है।

ये समूह और समाज स्वयं व्यक्ति के रचना रूप होते हैं किन्तु रचित हो जाने के बाद ये व्यक्ति के अस्तित्व से ऊपर उठ जाते हैं तथा व्यक्ति को उसके द्वारा स्थापित अनुशासन का पालन करना होता है। कल्पना करें कि आप में से कोई भाई अपने श्रम, धन और प्रचार से एक संस्था का संगठन करता है और उसके सदस्य बना कर पदाधिकारियों का निर्वाचन करवा देता है। फिर चाहे वह उस संस्था का अध्यक्ष ही चुना गया हो तब भी क्या वह अन्य पदाधिकारियों से असहमत रहकर उस संस्था में अपनी मनमानी चला सकता है ? ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि संस्था का संचालन उसके नियम और नियमों के अनुसार होता है, एक व्यक्ति की स्वैर इच्छा से नहीं। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक शक्ति का निर्माण स्वयं व्यक्ति करता है किन्तु निर्मित

के बाद व्यक्ति को भी उसके नियन्त्रण में चलना होता है। क्या इस देश के राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री सर्वोच्च पद पर रहते हुए भी संविधान का उल्लंघन कर सकते हैं ? ऐसा नहीं कर सकते हैं। यह समाज, वर्ग, संघ, संस्था या किसी समूह की शक्ति अलग से ही बनती है और इन्हीं में दंड शक्ति की प्रबलता के कारण राज्य शक्ति का विशेष स्थान रहता है। इस सबका तात्पर्य यह है कि बाह्य प्रदूषणों के जितने भी प्रकार हैं, उनसे मुक्ति पाने में व्यक्ति की अपेक्षा यह समूह की शक्ति विशेष रूप से कार्यक्षम होती है। अतः इस दिशा में इस शक्ति के प्रयोग से प्रदूषण मुक्ति का कार्य सम्पन्न किया जा सकता है।

मन का प्रदूषण

मन की शक्ति अपार और अद्भुत होती है। यह मन ही मनुष्यों के बन्धन का कारण होता है तथा इसी मन की सहायता से सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति भी प्राप्त की जा सकती है। तो इसके अपने ही प्रदूषण से मुक्ति प्राप्त करना भी निश्चय रूप से इसी मन के हाथ में है। कारण अपने भीतर दोष–प्रदोष का प्रवेश भी तो यह मन अपनी असावधानी तथा अपने अविवेक से ही होने देता है।

मनुष्य जब अपने आत्म स्वरूप तथा अपनी आत्म शक्ति से विस्मृत बनता है, तब अपने चंचल मन के अधीन हो जाता है। यह मन तब उसे इन्द्रियों के विषय भोगों की तरफ आकर्षित बनाता है और उनकी मोह, मूर्छा में उलझा देता है। शब्द, रूप, गंध, रस तथा स्पर्श सम्बन्धी ऐन्द्रिक सुखों की प्राप्ति के लिये तब मनुष्य इस संसार रूपी मरुस्थल में प्यासे हिरण की तरह भागता फिरता है। भोगों की लालसाओं में की जाने वाली इस दौड़ तथा स्वयं भोग के समय नाना प्रकार के विकारों, दोषों एवं प्रदोषों से यह मन ग्रस्त बनता जाता है। कभी कभी यह प्रदूषितता अति जटिल रूप भी ले लेती है। मन के इसी प्रदूषण से मुक्ति पाने के लिये तब कठिन उपाय करने होते हैं।

कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से विचार करें तो मन का यह प्रदूषण स्वयं आत्म स्वरूप को प्रदूषित बनाता है। मोह, मूर्छा के क्षेत्र में चाहे धन या सत्ता की प्राप्ति के लिये अथवा भोगों से क्षणिक तृप्ति के लिये मन की जो सक्रियता होती है, उससे निरन्तर आत्मा को पाप कर्मो का बन्ध होता है। आत्म स्वरूप का जो प्रदूषण है, वह उसका कर्मावरण ही होता है। कर्मो की जटिलता ही आत्मा की प्रदूषण मुक्ति की जटिलता बनती है क्योंकि कर्मो का सम्पूर्णतया क्षय किये बिना मुक्ति सम्भव नहीं होती है।

आन्तरिक पर्यावरण का सुधार

सभी प्रकार के प्रदूषणों से मुक्ति पाने के लिए यह आवश्यक है कि भीतर के प्रदूषणों से मुक्ति पाई जाय तथा आन्तरिक पर्यावरण का सुधार किया जाय। मूलतः अन्त.करण की विशुद्धि ही सभी प्रकार की अशुद्धियों के निवारण की कारणभूत बनती है।

आन्तरिक शुद्धि की दिशा में आगे बढ़ने के लिए पहले मनुष्य को अपना मन ही टटोलना पड़ेगा जो बन्धन और मुक्ति का कारण है। इसी मन को उसे विवेक की सीमा में लाना होगा, जो उसको कड़े आत्मानुशासन के नीचे रखकर ही किया जा सकेगा। मन का संशोधन आत्मा की जागृति के साथ ही हो सकता है। आत्म नियंत्रण की डोरी से उसकी चंचलता को बांधते रहना होगा तथा उसकी गति को शुभकारी मोड़ देना होगा। यह काम पूरी समझ तथा साहस से ही बन सकेगा। ज्यों ज्यों मन को त्याग की दिशा में एकाग्र बनाया जा सकेगा त्यों त्यों वह भोगमूलक प्रदोषों से मुक्त होता जायगा। इसके साथ ही मन के बंधन टूटते जायेंगे और उसका पर्यावरण संशोधित बनकर शुद्ध–विशुद्ध होता जायगा।

मन का शुद्धिकरण आत्म–पुरुषार्थ को कर्म क्षय की दिशा में अग्रगामी बनाता है और उसे कर्म मुक्ति के समीप ले जाता है। तब मन संयम की सीमाओं में स्थिर बनकर शुद्ध स्वरूप की ओर अग्रसर होता हुआ आत्मा के अनुशासन में चलने लगता है जिसके फलस्वरूप उसके फिर से प्रदूषणग्रस्त बनने की सम्भावना कम रह जाती है।

भीतरी पर्यावरण की विशुद्धि इस रूप में क्षणिक ही नहीं बनती है बल्कि स्थिर और स्थायी भी बन सकती है। यह स्वयं मन के ही पुरुषार्थ से सम्भव होता है।

प्रदूषण–मुक्ति के कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

विशुद्ध वायुमण्डल और विशुद्ध मन अथवा विशुद्ध मन और विशुद्ध वायु मण्डल ये परस्पर घनिष्ठता से संबद्ध और अन्योन्याश्रित रहते हैं। जहाँ विशुद्ध मन की प्राप्ति के लिये व्यक्तिगत पुरुषार्थ की अपेक्षा रहती है, वहाँ विशुद्ध वायुमंडल के निर्माण के लिए समूहगत प्रयासों की विशेष आवश्यकता होती है। अतः व्यक्ति के मन में और समाज के अन्तस्तल में एक ऐसे आन्दोलन का जन्म होना चाहिए जो भीतर बाहर के सम्पूर्ण वायुमंडल को प्रदूषण मुक्त और विशुद्ध बना दे।

अहिंसा / संस्कार

卐 धन लूटने वाला वैसा वैरी नहीं है जैसा वैरी कुसंस्कारों को डालने वाला होता है।

卐 जैसा व्यवहार तुम अपने लिये पसन्द नहीं करते वैसा व्यवहार तुम दूसरों के साथ भी मत करो।

卐 अहिंसा का विधि अर्थ है मैत्री, बन्धुता, सर्वभूत प्रेम। यही परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व में स्थायी शांति का मूल मंत्र है।

1

सुसंस्कारों का धन

संसार के समस्त प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य को माना गया है। ये समस्त प्राणी चार प्रकार के वर्गीकरण में विभाजित हैं, जिन्हें गति का नाम दिया गया है। गति चार हैं—मनुष्य, तिर्यंच, देव एवं नरक। मनुष्य गति के सिवाय अन्य तीनों गतियों में उस प्रकार के ज्ञान एवं उस प्रकार की क्रिया का अभाव है जो एक प्रकार के कल्याणकारी कृतित्व का उद्भव करते हैं। यों जीव का लक्षण ही उपयोग (ज्ञान) कहा गया है अर्थात् ज्ञान रहित कोई जीव नहीं होता तथा कोई भी जीव प्रतिपल कोई न कोई क्रिया करता ही रहता है। ज्ञान एवं क्रिया से एक भी जीव रहित नहीं होता, लेकिन सम्यग् ज्ञान एवं क्रिया का वह समग्र एवं सम्पूर्ण सामर्थ्य, मनुष्य को ही प्राप्त है जिसके आधार पर वह क्रम से अपना आत्म विकास साध सकता है। देवों को अद्भुत शक्तियां प्राप्त होती हैं किन्तु ऐसा सामर्थ्य नहीं।

वीतराग देवों ने इसी दृष्टि से मनुष्य के जीवन को 'परम दुर्लभ' कहा है। सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् क्रिया का जो [illegible] संयोग मनुष्य अपनी साधना में बनाता है, वही मोक्ष का भी कारणभूत हो सकता है। जिस जीवन में मोक्ष तक प्रगति करने की क्षमता रही [illegible] हो उसकी सामान्य स्थिति से तुलना कभी नहीं हो सकती है। यदि इस जीवन की वास्तविकता में झांका जाय तो इसी आध्यात्मिक शक्तियों का स्रोत दिखाई देगा। ज्ञान एवं क्रिया के सत्संयोग से ही वे शक्तियां जागृत होती हैं [illegible]

प्रगति कहेंगे और असद् स्वरूप ग्रहण करने पर विगति होगी। सद् और असद् स्वरूप का मूलाधार होता है ज्ञान। ज्ञान सम्यक् है तो क्रिया और गति नवीनता के सद् स्वरूप में ढलेगी और वह प्रगति होगी। ज्ञान मिथ्या हुआ तो स्थिति विपरीत हो जायगी।

यह मनुष्य जीवन की ही विशेषता है कि सद् और असद् के बीच के अन्तर को आंकने वाला विवेक उसके पास होता है। वह संसार की बाह्य परिस्थितियों में भटक जाय– यह दूसरी बात है, लेकिन उसकी आत्म जागृति का इतना स्तर अवश्य होता है कि सद्, असद् को पहिचान सके। यह विवेक ही उसकी जागृति का मुख्य माध्यम होता है–वह जागृति जो अपनी अन्तिम ऊंचाईयों तक पहुंच सकती है।

मनुष्य अपने इसी विवेक की सहायता से अपनी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की गहरी छानबीन करता है, उसके सद् एवं असद् स्वरूपों को पहिचानता है तथा असद् स्वरूप को घटा मिटाकर उन्हें अधिकाधिक सद् स्वरूपी बनाने का पुरुषार्थ जुटाता है। उसके इस सत्प्रयास में ही उसके जीवन के मूल्यों का निर्माण होता है। बुराइयों के विरुद्ध वह अपने संघर्ष में कितना साहस और धैर्य दिखा पाता है अथवा अच्छाइयों को अपनाने में वह कितनी इच्छा शक्ति और निष्ठा का परिचय देता है, उसके ही आधार पर उसके जीवन के मानदंड कायम होते हैं। विकसित होते हुए मूल्य इन्हीं मानदंडों के अनुसार ढलते, बदलते और पुनः स्थापित होते हैं।

मानव जीवन के विकास की यह प्रक्रिया निरन्तर चालू रही है। बीते इतिहास के पन्नों पर नजर डालें तो सद्–असद् के बीच का संघर्ष प्रत्येक युग में गतिमान दिखाई देगा और विदित होगा कि इस संघर्ष से ही गम्भीर चारित्र्य का विकास हुआ है तो महान् विभूतियों के प्रेरक आदर्श भी सामने आये हैं। हकीकत तो यह है कि काल क्रम में गुजरता हुआ सम्पूर्ण घटना चक्र मुख्यतः सद् और असद् के बीच के संघर्ष का ही इतिहास है और वस्तुतः यही मनुष्य जीवन के विकास का क्रम है। यही वह क्रम है जिसमें से गुजरते हुए मानवीय मूल्य भी तपते हैं, निखरते हैं और अपनी उज्जवलता प्रकट करते हैं।

संस्कारों का मूल मूल्यों में

संस्कार क्या ? हमारी संस्कृति में 'सम्' शब्द का अधिकाधिक प्रयोग हुआ है। सम युक्त शब्दों की हमारे शब्द कोष में भरमार है। उदाहरण के लिए एक शब्द को लें–सम्बन्ध को। यह शब्द आप जल्दी समझ जायेंगे। संबंध

करके सम्बन्धी बनाते हैं न, आप लोग ? लड़के और लड़की के सम्बन्ध की बात करें तो लड़के वाला अपने को बड़ा मानता है और लड़की वाला अपने को छोटा। ऐसा विषम व्यवहार करते हुए भी आप उसे सम्बन्ध कहते हैं किन्तु क्या 'सम्बन्ध' का अर्थ भी जानते हैं ? यह सम्बन्ध दो शब्दों सम् + बन्ध के मेल से बना है अर्थात् जिससे बंधे हैं वह बंधन समान है, विषम नहीं। सम्बन्ध का मूल समानता में है तो सम्बन्धी फिर असमान कैसे रहे ? अस्तु हम यहां संस्कार की बात कर रहे हैं।

संस्कार शब्द भी कार्य की समानता अथवा समता का बोधक है। इससे सम्यक् स्वरूप का बोध भी लिया जा सकता है। जो करें वह समत्व से जुड़ा हुआ है तो उसे संस्कार कहेंगे। यह व्याख्या कुछ अटपटी लग सकती है क्योंकि सामान्य धारणा यह है कि संस्कार वह है जो दिया-लिया जाता है। यह धारणा भी गलत नहीं है। संस्कार तो किया जाता है किन्तु उसका प्रभाव अवश्य दिया-लिया जाता है। संक्षेप में कहें तो संस्कारों का मूल प्रस्थापित मानवीय मूल्यों में ही होता है। ज्ञान एवं क्रिया की सम्यक् साधना के फलस्वरूप मनुष्य का जो कृतित्व सामने आता है उसी से मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा होती है। इन्हीं मूल्यों के मूल पर संस्कार प्रतिफलित होते हैं-करणीय कार्यों की एक श्रृंखला बनती है।

वस्तुतः संस्कार मनुष्य के कृतित्व का ही प्रभाव रूप होता है जो परम्परा में ढलकर संस्कृति का स्वरूप ग्रहण करता है। ये संस्कृतियां ही विभिन्न काल खण्डों, देशों अथवा जातियों के गुणावगुणों की परिचायक होती हैं। संस्कार जब कृति की क्रमिक श्रृंखला से जुड़ जाते हैं तभी वे संस्कृति बनते हैं। संस्कृति और कुछ नहीं प्रतिष्ठित मूल्यों तथा निर्मित संस्कारों का स्वरूप ही तो होता है।

पीढ़ियों को भी। यह प्रवाह ही संस्कृतियों का निर्माण करता है और नवीन संस्कृतियों की प्रेरणा देता है।

संस्कारों के इसी प्रवाह को समझने की बात ही हमारे सामने हैं। कैसे बनते हैं संस्कार और कैसे बनता है उनका प्रवाह ? संस्कार क्या बनते ही हैं या वे बनाये भी जाते है ? वर्तमान विषम परिस्थितियों को बारीकी से देखने वाले के मन में यह प्रश्न भी उठ सकता है कि क्या संस्कारों के ऐसे विकृत स्वरूप का संशोधन भी सम्भव है ?

मनुष्य का जो भी और जैसा भी कृतित्व सामने आता है, उसमें उसकी व्यक्तिगत एवं समूहगत वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की झलक दिखाई देती है। यों मनुष्य का मन सभी प्रकार के विचारों का उद्‌गम स्थल होता है जो विचार वचन से प्रकट होते हैं तथा कर्म से प्रतिफलित। मन, वचन एवं काया का योग व्यापार एक व्यक्ति का चलता है– एक खास घटक या वर्ग में और सारे समाज में सभी व्यक्तियों का चलता है। ऐसे योग व्यापार से व्यक्ति–व्यक्ति परस्पर में प्रभावित होते हैं तो उसका सामूहिक प्रभाव भी पड़ता है। वास्तव में व्यक्ति–व्यक्ति का पारस्परिक प्रभाव भी सामूहिक स्वरूप ही पकड़ता है। यही सामाजिक स्वरूप होता है। यह स्वरूप अपनी प्रतिक्रिया भी उत्पन्न करता है जो पुनः व्यक्तियों के योग व्यापार को अर्थात् विचार दिशा एवं कार्य शैली को प्रभावित करती है।

क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के इसी मंथन में मनुष्य जीवन की सामाजिकता एवं निरन्तरता का बोध गहरा होता जाता है और उसी से संस्कारों का प्रवाह फूटता है जिसमें तैरता–उतरता है भविष्य।

संस्कारों का स्वरूप 'सु' और 'कु' में

जिसको संस्कारित किया जाय याने कि संस्कार दिये जायं, वह ग्राहक उत्सुक होना चाहिये तथा संस्कार देने वाला स्वयं भी संस्कृत होना चाहिए– तभी तो संस्कारों में आदान–प्रदान सुव्यवस्थित हो सकता है। यों क्रिया का क्रम कभी टूटता नहीं और जैसा भी क्रिया का रूप होगा वैसा उसका प्रभाव अवश्य फैलेगा अर्थात् तदनुसार संस्कारों की रचना अवश्य होगी और वैसे संस्कार लिये–दिये भी जायेंगे। अतः इस स्तर पर समस्या का बिन्दु यह पैदा होता है कि उन निर्मित होने और ग्रहण किये जाने वाले संस्कारों का स्वरूप कैसा है ? इसी संदर्भ में उन संस्कारों के 'सु' या 'कु' के स्वरूप पर विचार करना होगा तथा ऐसे प्रयास सक्रिय बनाने होंगे कि संस्कारों का 'कु' रूप यदि

है तो मिटता जाय और 'सु' रूप अधिक से अधिक प्रखर बनता जाय। यह भी विचारणीय स्थिति होगी कि संस्कारों का प्रभाव छोड़ने वाले व्यक्ति की स्वयं की नैतिकता और कार्य प्रणाली कैसी है ? ये सब बिन्दु मिलकर ही संस्कारों के गुण दोषों की परख करा सकेंगे।

सुसंस्कार कैसे होते हैं और कुसंस्कार कैसे—इस का अनुभव न्यूनाधिक रूप से सभी को होता है चाहे कई लोग अपने उस अनुभव को ठीक ढंग से प्रकट न कर पायें। स्वयं को और प्रत्येक को अच्छा क्या लगता है और बुरा क्या—इसका निर्णय आत्म कसौटी से अधिक अच्छा कोई नहीं कर सकता है क्योंकि विवेक का प्रयोग उसके साथ होता है। इसमें भी एक बात समझने लायक है। संस्कारों की रचना में संस्कार देने वालों का दायित्व अधिक होता है क्योंकि संस्कार को ग्रहण करने वालो के अधिकांशतः मन साफ पट्टी की तरह होते हैं जिन पर जो लिख दिया जायेगा, वे ही उनके जीवन के आदर्श बन जाते हैं। जैसे एक घर के माता—पिता हैं और उनके यहां एक बालक गर्भ में आता है और फिर जन्म लेता है तो संस्कार देने वाले हैं माता—पिता तथा ग्रहण करने वाला होता है कोरी पाटी जैसा बालक का मन। माता—पिता के संस्कार वैसे ही होंगे जैसे उनके कार्य होंगे—उनका ढला हुआ अपना चरित्र होगा। उनके यदि सुसंस्कार होंगे तो बालक भी सुसंस्कारी बनेगा। इसके विरुद्ध माता—पिता के कुसंस्कार बालक को भी कुसंस्कारी बना देंगे।

यह तो होती है संस्कार—रचना की स्वाभाविक प्रक्रिया। इसी रचना को पुरुषार्थजन्य प्रक्रिया का रूप भी दिया जा सकता है बल्कि इस रूप को ही अधिक क्रियाशील बनाना चाहिए। समाज में सभी एकसे प्रबुद्ध नहीं होते। उनकी आत्म जागृति का स्तर भी भिन्न—भिन्न होता है। इस कारण जो अधिक प्रबुद्ध होते हैं, उनका विशेष दायित्व बनता है कि वे समाज में प्रचलित पारम्परिक संस्कारों के विकारों को दूर करने के लिए विशेष अभियान चलावें तथा सामाजिक वातावरण पर से कुसंस्कारों का प्रभाव मिटावें। इन अभियानों में संस्कार देने वाले व्यक्तियों के संस्कार—शोधन का कार्य भी प्रमुख होगा। फिर उन व्यक्तियों के जीवन में भी संशोधन लाना होगा जो अब तक कुसंस्कार ग्रहण करके अपने चरित्र को विकृत बनाते जा रहे हैं तथा संस्कार ग्रहण [illegible] का प्रभाव [illegible] जाती है। सामान्य रूप से संस्कारों के आदान—प्रदान की [illegible] सभी पक्षों को सामाजिक आधार से [illegible] होगा और [illegible] को मिटाते हुए सुसंस्कारों का [illegible] बनाना [illegible]

संस्कारों के संशोधन एवं परिमार्जन की ऐसी प्रक्रिया भी निरन्तर व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्तरों पर चलती रहनी चाहिए। यह प्रक्रिया साधु–सन्त और प्रबुद्ध व्यक्ति चलायेंगे किन्तु इस प्रक्रिया का आधार वीतराग देवों द्वारा उपदेशित धर्म को ही बनाना होगा। इस धर्म के सर्वजन हितकारी सिद्धांतों में ही वह बल है जो मानवीय मूल्यों की सर्वत्र प्रतिष्ठा करते हैं तथा व्यक्ति को विश्व के समस्त प्राणियों के साथ मैत्री की सीख देते हैं।

सुसंस्कारों का धन व उसकी महत्ता

जो राष्ट्र, समाज या जाति सुसंस्कारों का निर्माण और निर्वहन करते हैं, वे ही सुसंस्कारों को पारम्परिक स्वरूप देकर कई पीढ़ियों तक के लिये उन्हें प्राभाविक बना देते हैं। सुसंस्कारों का धन एक–एक व्यक्ति अपने नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के पुरुषार्थ से उपार्जित करता है और यही धन सामाजिक प्रयास के माध्यम से संचित एवं सुरक्षित बनाया जाता है। तब यह धन एक व्यक्ति या किसी समाज विशेष का ही न रह कर सार्वजनीन हो जाता है, बल्कि भूखंडों व कालखंडों की सीमाओं को लांघ कर सर्वक्षेत्रीय तथा सर्वकालीन भी हो जाता है। सच पूछें तो सुसंस्कारों के धन की महत्ता का कोई पार नहीं है।

आज जब संसार में कुसंस्कारों का अधिक बोलबाला है तथा विषमता की विष बेल चारों ओर फैलती ही जा रही है, तब ऐसे समय में सुसंस्कारों की महत्ता को समझना और उसे व्यवहार में कार्यान्वित करने के आदर्श उपस्थित करना और भी अधिक अनिवार्य है। वर्तमान विषमता में एक कुसंस्कार इतना बड़ा बन गया है, लगता है कि उसी का असर सारे विश्व पर छाया हुआ है। यह कुसंस्कार है धन और सत्ता को अपने लिये हथियाने का कुसंस्कार। चाहे नीति से हो या अनीति से, सही उपायों से हो या पापकारी उपायों से अधिकतर व्यक्ति धन और धन से सत्ता प्राप्त करने की होड़ में लगे हुए हैं। यह होड़ इतनी फैलती जा रही है जिससे लगता है कि व्यक्ति ही नहीं, सामूहिक स्तर पर वर्ग, समाज या राष्ट्र तक इस होड़ में अविचारपूर्वक लगे हुए हैं। इस का कुपरिणाम यह है कि आर्थिक विषमता की खाई तो भयंकर रूप से गहरी और चौड़ी हो ही रही है, किन्तु इससे भी अधिक जो बुरा हो रहा है वह है कुसंस्कारों का फैलाव विकारों की जकड़ और नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन का सर्वनाश।

इस कुपरिणाम का विश्लेषण इस प्रकार भी किया जा सकता है कि कोई किसी के पास से उसका उपार्जित एवं संचित धन लूट कर ले जाय तो उसकी यही हानि मानिये कि वह फिर पुरुषार्थ करे और फिर उतने ही का उपार्जन कर ले, किन्तु सुसंस्कारों की लूट अत्यन्त घातक होती है जिससे एक नहीं, कई पीढ़ियों का जीवन बरबाद हो जाता है तथा फिर से सुसंस्कारों की प्रतिष्ठा एक भगीरथ कार्य बन जाता है। धन हानि से संस्कार हानि का कुपरिणाम बहुत ही घातक तथा बहुत ही व्यापक होता है।

इस सन्दर्भ में आप सोचिये कि समाज और व्यक्ति के स्वस्थ विकास के वैरी कौन हैं ? आप समझ गये होंगे कि वे बड़े वैरी और कोई नहीं, बल्कि वे लोग हैं जो समाज एवं व्यक्ति के सुसंस्कारों के साथ खिलवाड़ करते हैं, कुसंस्कारों के प्रवाह को बल देते हैं तथा कुसंस्कारों को दूर करने में अपना सहयोग नहीं देते। वे लोग भी वैसे ही वैरी हैं जो स्वयं अपने जीवन की ओर आलोचना की दृष्टि नहीं डालते तथा यह सतर्कता नहीं बरतते कि उनका अपना जीवन सुसंस्कारों को पोषण दे रहा है अथवा कुसंस्कारों को। मैं पूछता हूं कि नैतिकता एवं आध्यात्मिकता के इन वैरियों की क्या आप पहिचान कर सकते हैं ? और क्या अपने जीवन की भी जांच परख कर सकते हैं कि इस वैर का कितना अंश आपकी अपनी जीवन शैली में भी भरा हुआ है। यह गहन स्थिति है कि गुण दोषों की दृष्टि से दूसरों को भी देखें और अपने आप को भी। यदि आप सफलतापूर्वक ऐसा कर सकें तो आपको प्रतीत होगा कि धन लूटने वाला वैसा वैरी नहीं है जैसा वैरी कुसंस्कारों को डालने वाला होता है। क्योंकि कुसंस्कारों की काली छाया में व्यक्ति ही नहीं, नई पीढ़ी और समाज व राष्ट्र तक इतने अंधे हो जाते हैं कि वे हिताहित का भान खोकर सत्ता और सम्पत्ति को हथियाने की दौड़ में निकल पड़ते हैं। कुसंस्कारों का दुष्प्रसार इस तरह बढ़ता ही रहता है जिस बोझ को ढोते हुए कई पीढ़ियां अपने स्वस्थ विकास से वंचित हो जाती हैं। इसलिये सुसंस्कारों का धन अधिक से अधिक उपार्जित कीजिये, नई पीढ़ी में उसको बीज की तरह बोइये एवं राष्ट्र तथा संस्कृतियों के नवनिर्माण में अपना पवित्र योगदान अवश्य दीजिए।

सुसंस्कार सदा त्याग मांगते हैं

व्यक्तिगत स्तर पर हो अथवा सामूहिक स्तर पर—सुसंस्कारों [illegible] है सदा त्याग की आवश्यकता होती है। [illegible] पीढ़ी के स्वस्थ विकास में [illegible] रहता है, [illegible]

स्व–पर हित के इस पुण्य कार्य में अपना सहयोग देने को तत्पर बनता है। त्याग की ऐसी प्रेरणा के लिए वीतराग–प्रणीत धर्म की ओर ही निहारना होगा। इसी धर्म की शिक्षा है कि जो एक को देखता है, वह सबको देखता है और जो सबको देखता है वह एक को देखता है। इसी में वह रहस्य समाया हुआ है कि समष्टि में व्यष्टि तिरोहित हो जाय और अपने आदर्श व्यक्तित्व से सुसंस्कारों को स्थायी रूप से समाज में प्रतिष्ठित कर दे।

अपने जीवन को सुसंस्कारों से ओत प्रोत करने का अर्थ ही यह होता है कि सभी प्राणियों के हित को अक्षुण्ण रखते हुए अपना हित सम्पादित किया जाय। क्या यह त्याग के बिना सम्भव है ? और जब ऐसे सुसंसकार देने की स्थिति हो तब तो और अधिक त्याग चाहिए कि अपना सब कुछ देकर विकासशील जीवन तथा प्रगतिशील वातावरण का निर्माण किया जाय। संस्कार स्वस्थ जीवन का रक्त प्रवाह होता है।

2

सुसंस्कार, सद्व्यवहार तथा सहकार की त्रिवेणी

भगवान् महावीर ने जीवन के अपूर्व रहस्यों एवं सत्यों का उद्घाटन किया है। स्वानुभाव से उन्होंने आत्म प्रेरणा का मर्म समझा और संसार के समस्त प्राणियों को आत्म विकास का मार्ग बताया। उनका कथन है कि—

जे अज्झत्थं जाणई, से बहिया जाणई।
जे बहिया जाणई, से अज्झत्थं जाणई।
एवं तुलमन्नेसिं। 1—1—4 आचारांग सूत्र

अर्थात् जो अपने अन्दर अपने सुख दुःख की अनुभूति को जानता है, वह बाहर दूसरों के सुख दुःख की अनुभूति को भी जानता है। जो बाहर को जानता है वह अन्दर को भी जानता है। इस प्रकार दोनों को—स्व तथा पर को एक तुला पर रखना चाहिये।

आप इस कथन की गंभीरता में उतरने का प्रयत्न कीजिये कि स्व तथा पर को एक तुला पर कैसे रखा जा सकता है ? कारण, इस जीवन की यह मूल समस्या है। यदि अपने और सभी अन्य प्राणियों के हितों का समन्वय किया जा सकता है तो फिर संसार की ऐसी कोई भी अन्य समस्या नहीं है जिसका सुन्दर समाधान न ढूंढा जा सके। समस्त समस्याओं की जड़ यही है कि व्यक्ति अपने ही स्वार्थों से ऊपर उठ नहीं पाता है तथा अपने स्वार्थों के [illegible] में विविध—विरोधी विषमता को जन्म देता है और सार्वजनिक एवं सामाजिक नैतिकता को आघात पहुंचाता है।

आचारांग सूत्र का उपरोक्त कथन समता [illegible] की प्रेरणा देता है ? [illegible] समता के महत्व को वही आंक सकता है जो समता के अभाव के [illegible]

करता है, दूसरों के आत्म–भावों की अनुभूति लेता है तथा अपने हितों को दूसरों के हितों से जोड़ देता है। वस्तुतः जो ऐसा करता है, वह धीरे–धीरे अपने हितों को भी भूल जाता है तथा स्वहित को परहित में समाविष्ट कर लेता है। अपने आचरण को इस रूप में वही ढाल सकता है जो सुसंस्कार, सद्व्यवहार एवं सहकार की त्रिवेणी प्रवाहित कर सकता हो–ऐसी त्रिवेणी जो उसके विकारों को भी परिमार्जित कर दे तथा जो भी प्राणी उसके शीतल जल का स्पर्श करे, उसके जीवन को भी रूपान्तरित कर दें।

सुसंस्कारों से समता का पोषण

समता की इस दिशा में आगे बढ़ने के लिये सुसंस्कारों की पृष्ठभूमि का होना अनिवार्य है। जिस जीवन पर सुसंस्कारों की छाप पड़ी हुई होती है, उसकी विचारणा में आधारगत अन्तर होता है। वइ इस बिन्दु से अपनी विचारणा का आरम्भ नहीं करता कि उसके अपने क्या स्वार्थ हैं–उसकी अपनी क्या आवश्यकताएं हैं जिनकी पूर्ति हेतु वह क्या प्रयत्न करे, बल्कि उसकी विचार शक्ति पहले यह देखना चाहती है कि उसके पास क्या–क्या साधन उपलब्ध हैं तथा उनका प्रयोग करके वह दूसरों के हितों को किस प्रकार पुष्ट बना सकता है ? इसे संस्कारहीनता कहेंगे कि जो सबसे पहिले निज के स्वार्थो पर ही अपने ध्यान एवं पुरुषार्थ को केन्द्रित बना दे। यह निश्चित मानिये कि दूसरों के हित में अपना हित तो स्वयं ही समा जाता है–स्वहित तथा परहित एक तुला पर आरूढ़ हो जाते हैं।

समत्व के इस सन्तुलन को प्राप्त करने के लिये पहले इस पृष्ठभूमि की ओर ही देखना होगा। वह पृष्ठभूमि है सुसंस्कारों के निर्माण की सुव्यवस्था। अब तक आपने देखा है कि सुसंस्कारों के निर्माण में सबका अपना तथा संयुक्त दायित्व किस रूप में होता है ? सब अपने–अपने स्थान पर सदा सतर्क एवं प्रयत्नशील रहें तो मनुष्य के जीवन को सुसंस्कारों से विभूषित बनाना कोई अति कठिन कार्य नहीं है। यह ध्यान में रखने लायक तथ्य है कि प्रत्येक आत्मा में अपने विकास की एक ललक होती है किन्तु बिडम्बना यही दिखाई देती है कि अधिकांश आत्माओं में यह ललक सुसुप्त सी रहती है जिसे जागृत करने की अपेक्षा होती है। इस जागृति का एक ही उपाय है कि विचार एवं व्यवहार में सर्वत्र समता का पोषण किया जाय। यह सुसंस्कारों से ही सम्भव हो सकता है।

स्वाभाविक सदाशयता का निर्माण

समत्व के सन्तुलन का निर्वाह करते हुए जब एक संस्कार सम्पन्न जीवन गतिशील बनता है तो उसके स्वभाव में एक प्रकार की सदाशयता का निर्माण हो जाता है। मन, वचन एवं काया की जिस किसी वृत्ति या प्रवृत्ति में वह अपने को नियोजित करता है तो स्वाभाविक रूप से उसका आशय सदा श्रेष्ठ एवं सबके प्रति शुभ बना हुआ रहता है। यही सदाशयता होती है। आशय तभी शुद्ध एवं शुभ बनता है जब किसी का वैचारिक धरातल श्रेष्ठ हो जाता है। जो अपने विचार में अशुद्धता और अशुभता को कोई स्थान नहीं देता, उसी का आशय शुद्ध, शुभ एवं सुस्पष्ट बनता है। यह आशय जब स्वभाव में उतर जाता है तब वह स्वाभाविक और सहज भी हो जाता है।

इस आशय को भी समझ लें कि कैसे यह सदाशय बनता है और कब असदाशय ? जब कोई किसी भी प्रकार के कार्य को करने का विचार करता है तो उस कार्य का वह कोई प्रयोजन भी सोचता है। प्रयोजन के बिना कोई कार्य नहीं होता। उस प्रयोजन को ही आशय कह सकते हैं, जिसमें उस प्रयोजन की पूर्ति का प्रकार भी सम्मिलित हो सकता है। यह आशय जितना अधिक शुभता से ओतप्रोत होगा, उतना ही वह सदाशय बन कर सुप्रभाव का प्रतीक बन सकता है। यही आशय जब दुर्भावना एवं अपकारपूर्ण प्रयोजन वाला होता है तो उससे बना यह असदाशय कार्य को सदोष बनाता है। तब उस कार्य की प्रतिक्रिया भी विकारोत्तेजक होती है।

लेकिन, जहां सुसंस्कारों की पृष्ठभूमि पुष्ट हो जाती है, वहां आशय का अशुभ नहीं होता, बल्कि सदाशय संस्कारयुक्त जीवन में सहज और स्वाभाविक बन जाता है। शनैः शनैः उस सदाशयता के निर्माण में इतनी सुदृढ़ता भी उत्पन्न हो जाती है कि पग पग पर कठिनाइयों तथा आपदाओं का सामना करते हुए भी उस सदाशयता से विमुखता नहीं आती है। इतना ही नहीं यह सदाशयता निरन्तर विकासशील भी रहती है, जिससे व्यक्ति एवं समाज का नैतिक उत्थान सरल बन जाता है। सदाशयता की स्वाभाविकता [illegible] होती है।

महावीर प्रभु का उपदेश है कि जैसा व्यवहार तुम्हें अपने लिये प्रिय है, वैसा ही व्यवहार तुम दूसरों के साथ भी करो। प्रकारान्तर से इसे यों भी कह सकते हैं कि जैसा व्यवहार तुम अपने लिये पसन्द नहीं करते, वैसा व्यवहार तुम दूसरों के साथ भी मत करो। यह सीधा–सादा सिद्धान्त अपूर्व महत्त्व से भरा हुआ है। व्यवहार की इससे अच्छी दूसरी क्या कसौटी हो सकती है ?

सद् व्यवहार की इस कसौटी पर बाद में विचार करें, पहले यह समझें कि अपेक्षा और प्रेरणा का चक्र क्या होता है ? उन्नत संस्कारों के सद्‌भाव में सद्व्यवहार की एक आन्तरिक प्रेरणा बनी रहती है और वह प्रेरणा ही सद्व्यवहार की निरन्तरता को बनाये रखती है क्योंकि उस प्रेरणा में स्व–पर हित रूप आत्म–विकास का बीज मंत्र छिपा हुआ रहता है। वैसी प्रेरणा सतत् बलवती बनी रहती है।

दूसरे, जिस जीवन में ऐसी प्रेरणा जब अधिक बल नहीं पकड़ पाती है तब अपेक्षा वृत्ति क्रियाशील रहती है। यह अपेक्षा कि दूसरे यदि उसके साथ अच्छा व्यवहार करें तो वह भी दूसरों के साथ सद्व्यवहार करेगा। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो ऐसी अपेक्षा वृत्ति से सुसंस्कारों की दुर्बलता का ही परिचय मिलता है। फिर भी निष्क्रियता से यह वृत्ति ठीक ही कहलायगी। यह अपेक्षा वृत्ति भी अन्तःकरण से जुड़ कर प्रेरणा में रूपान्तरित होती रहती है। अतः प्रेरणा और अपेक्षा का एक चक्र ही मानिये जो सद्व्यवहार को प्रोत्साहित करता रहता है।

सद्व्यवहार की कसौटी

दूसरों के व्यवहार की तो आप जांच कर लेंगे किन्तु अपने ही व्यवहार की जांच करना जरा कठिन होता है। अपने व्यवहार को जांचने की कसौटी प्रभु महावीर ने ही बताई है कि अपने व्यवहार की सामने वाले पर होने वाली प्रतिक्रिया को देखें और कल्पना करें कि यदि वैसा ही व्यवहार सामने वाला आपके साथ करता तो आपकी प्रतिक्रिया क्या होती ? इन दोनों प्रतिक्रियाओं के अन्तर से ही जाना जा सकेगा कि आपके व्यवहार में सद तत्त्व का अभी भी कितना अभाव है ? यह कसौटी अपने ही अन्तःकरण की होगी तथा अपना आत्मानुनव ही निर्णायक बनेगा।

सद् व्यवहार को भी नित्य समुन्नत बनाते रहने के लिये यह कसौटी निरन्तर काम में लाई जाती रहनी चाहिये। इससे सद्व्यवहार ही वह प्रत्यक्ष तथ्य होता है जो सामने वाले को तुरन्त प्रभावित करता है। सद्व्यवहार से

अधिकांशतः सद्व्यवहार ही उपजता है और सद्व्यवहार की व्यापकता समाज को ऊपर उठाती है।

सहकार : व्यक्ति से समाज तक

सुसंस्कार और सद्व्यवहार निश्चित रूप से सहकार से जुडता है और सुसंस्कार, सद्व्यवहार तथा सहकार की ऐसी त्रिवेणी प्रवाहित होती है जो वास्तव में पतितपावनी बन जाती है। ऐसी त्रिवेणी सतत रूप से प्रवाहित रहे तो उस समाज या देश का सौभाग्य अटल रहता है क्योंकि उस समूहगत वातावरण मे व्यक्तियों को आत्म–विकास का मार्ग निर्बाध मिलता है।

संस्कार एवं व्यवहार की श्रेष्ठता से उपजा हुआ सहकार व्यक्ति को दूसरो के साथ तथा समाज के साथ गहराई से जोडता है। यह सहकार क्या है ? सहकार का अर्थ है साथ में काम करना और जहां भी आवश्यकता हो, वहां अपना योगदान देना। एक सुसंस्कारी एवं सद्व्यवहारी जीवन द्वारा दिये जाने वाले सहकार का विशिष्ट महत्त्व होता है। यद्यपि सहकार प्राथमिक रूप से तो बाहरी परिस्थितियों को सुलझाने में दिया जाता है किन्तु वैसा सहकार अन्तस्तल की भावनाओं को छूता है और उन्हे जागृत बनाता है जिसके कारण पदार्थ जन्य सहकार धीरे–धीरे नैतिकता एवं आध्यात्मिकता के दायरों मे प्रवेश करता हुआ आत्म विकास का कारणभूत बन सकता है। वस्तुतः सहकार का यही यथार्थ स्वरूप होता है जो व्यक्ति को निजात्मा एवं अन्य आत्माओं की आन्तरिकता मे विचरण कराता है। सहकार का यही विकसित रूप जब व्यक्ति से समाज तक फैलता है, तभी उन्नायक क्रान्ति का बीजारोपण होता है।

सूख रही है यह त्रिवेणी

विश्व की वर्तमान परिस्थितियों के अन्दर गहराई से जाकर हम अनुमान करते है तो ऐसा आभास होता है कि संस्कार, सद्व्यवहार एवं सहकार की यह त्रिवेणी आज सूख रही है। उसका प्रवाह मन्द हो गया है और [illegible] जैसे विषमता की आग से उड़ता जा रहा है। ऐसा न हो कि यह त्रिवेणी एक दिन एक सूखी हुई नदी मे बदल जाय।

इस पावन त्रिवेणी के जल–प्रवाह की रक्षा करनी है तो वर्तमान युग के [illegible] प्रचलन की रीतियों का विश्लेषण करना आवश्यक है। [illegible] से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व की वर्तमान दुरवस्था का [illegible] कारण क्या है ?

पहले व्यक्ति को ही लें—आखिर वही तो इन सारे घटकों का मूलाधार है। अपने मन को भी साथ में जोड़ लें और सोचें कि आज के मनुष्य के मानस में क्या प्रगति की कोई दिशा निर्धारित है ? किसी भी प्रकार की गतिशीलता के लिये पहली जरूरत होती है दिशा बोध की। समझिये कि आपने यात्रा करने का निश्चय किया और कहें कि कहां जाना है, यह निश्चय नहीं किया तो आपके यात्रा के निश्चय को कैसा कहा जायगा ? कम से कम उससे आपकी बुद्धि का परिचय तो नहीं ही मिलेगा। अब यह परम दुर्लभ मनुष्य जीवन मिला है और इसमं ज्ञान व क्रिया का संयोग भी मिला है जिसका अर्थ है कि गति करना सुनिश्चित है फिर यह तो सुनिश्चित होना ही चाहिये कि यह गति किस दिशा में करनी है ? किस दिशा में गति करने से हमारा हित होगा—यह भी जानना चाहिये और यह भी कि अभी किस दिशा में गति की जा रही है ? इन प्रश्नों के उत्तरों से ही गति क्रम की सुघड़ता स्पष्ट हो सकेगी। सोचिये कि आज के इस आपाधापी के जमाने में मनुष्य को यह देखने की भी फुर्सत है क्या कि वह अपने सही उद्देश्य को जांचे—परखे तथा अपनी गति को शुभ दिशा में मोड़ दे। गति में जब दिशाहीनता हो तो उस गति को भटकाव के अलावा क्या कहें ?

दिशाहीनता ही एक दिन गति—शून्यता में बदलती है और तब जीवन ही शून्य हो जाता है। इस कारण यही मुख्य बिन्दु है आज के मनुष्य की विचारणा का। स्वस्थ दिशा बोध के अभाव में ही मनुष्य का आचरण हिंसा भरा एवं पापपूर्ण होता जा रहा है जिसके कारण वह संवेदना—शून्य भी हो रहा है। अपने सामने वह अन्याय और अत्याचार देखता है, प्राणियों का खून बहते हुए देखता है तथा चतुर्दिक् हिंसा के तांडव नृत्य को देखता है, फिर भी उसका हृदय कसकता नहीं, तड़पता नहीं—उसमें कोई ज्वार या आन्दोलन पैदा नहीं होता। बड़े शहरों में आप ऐसी मानसिकता को देखते होंगे कि आस—पास के कमरों में रहने वाले एक दूसरे को पहिचानते नहीं—फिर सुख—दुःख में एक दूसरे की भागीदारी का तो सवाल ही कहां उठता है ? मानवीय सम्बन्धों को भूलकर बाह्य सांसारिक पदार्थो की प्राप्ति के लिये आज का मनुष्य पागल होकर भटक रहा है और उसी पागलपन में वह अपने आत्मीय गुणों का विस्मृत करता चला जा रहा है। उसे न अपने भविष्य का भान है और न अपनी आने वाली पीढियों के भविष्य का। दुःख तो इस दुर्दशा पर होता है कि वह नाशवान पदार्थो की लालसा में ही उलझा रहता है और कांटों के सिवाय कुछ पाता नहीं।

संवेदना नहीं रही तो भावना भी टूट गई और विचार शून्यता भी फैलने लगी है। संवेदना, भावना और विचार के अभाव में कहां रह जाता है सम्यक् ज्ञान, सद्‌विवेक और कहां रह जाती है सम्यक् क्रिया ? दिशाहीनता तो सभी आदर्शों को धुंधला देती है।

व्यक्ति का यही विकारपूर्ण परिवर्तन सभी घटकों को अशान्त बनाये हुए है। परिवार में विवाद और विग्रह है, समाज मे अनुशासनहीनता और अव्यवस्था है, राष्ट्र में आतंक और विघटन है तो सारे विश्व में पिछडी मानवता के प्रति अन्याय और अत्याचार है। कहां है शान्ति ? और शान्ति नहीं है तो कहा रहेगा सुसंस्कार, सद्‌व्यवहार और सहकार ? आज की दुरावस्था अत्यधिक चिन्तनीय है।

आत्मविश्वास और पुरुषार्थ को जगाओ

किन्तु पुरुष का पुरुषार्थ यही कहता है कि कैसी भी विकट परिस्थितियां क्यों न हों–हताशा का कोई कारण नहीं होना चाहिये। पुरुषार्थ की गति कहीं भी कभी भी रुकनी नही चाहिये। इसके लिये अटूट आत्म–विश्वास की आवश्यकता होती है। कोई कभी भी निराश न हो– इसमें उपरोक्त आत्म विश्वास ही सहायक होता है। आत्म विश्वास बना रहता है तो पुरुषार्थ कभी हार नहीं मानता है। एक पुरुषार्थी की अन्ततोगत्वा विजय ही होती है।

मन, वाणी और कर्म की ऐसी शक्ति तभी जन्म लेती है और पल सकती है जब जीवन प्रारम्भ से ही सुसंस्कारों से सम्पन्न हो तथा उसमें मानवीय मूल्यों का समुचित विकास हो चुका हो।

☆

अहिंसा का विधि–मूलक पक्ष

संसार के सभी प्राणी सुख चाहते हैं दुःख कोई भी नहीं चाहता है। सभी सुख लाने का प्रयास करते हैं और दुःख को टालने का। फिर भी विडम्बना यह है कि चारों ओर दुःख दिखाई देता है–सुख के दृश्य कठिनाई से ही दीखते हैं। ऐसा क्यों है ?

इस स्थिति का एक ही पेच है। सभी अपने ही लिये सुख चाहते हैं–उनके मन में दूसरों के सुख की कामना कम ही रहती है। और सभी अपने ही दुःखों को टालना चाहते हैं यह देखे बगैर कि उसके द्वारा टाले हुए दुःख कहीं दूसरों को ही दुःखित तो नहीं बना रहे हैं। यह पेच स्वार्थ का है–अपने ही खयाल का है जिसमें दूसरों के दुःख–सुख का खयाल गायब सा रहता है। स्वार्थान्धता में मनुष्य इस तथ्य को भूल जाता है कि समाज में रहते हुए केवल अपने ही लिये सुख के प्रयास से सुख कैसे आ सकता है ? सुख समन्वय से ही हो सकता है और दुःख भी समन्वित प्रयास से ही जा सकता है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपने नहीं, दूसरों के सुख का पहले ध्यान रखेगा और इसी तरह दूसरों को दुःख से संरक्षित करेगा तभी सुख सबको होगा और दुःख होते हुए भी सबकी भागीदारी से उसका कटु अनुभव किसी को नहीं होगा। जीवन जीने की ऐसी जो कला है, वह अहिंसा के गर्भ से उत्पन्न होती है। अहिंसा के आचरण से जीवन की इस कला का विकास होता है जो सबके जीवन से जुड़कर सबके साथ जीना और सुख–दुःख का अनुभव करना सिखाता है।

हिंसा का विलोम–अहिंसा

प्रत्येक जीव में इतनी संज्ञा अवश्य होती है कि वह अपने जीवन की रक्षा करे। अपने जीवन की रक्षा किस उपाय से करे अथवा दूसरों के जीवन

की भी वह रक्षा करे—यह ज्ञान उस संज्ञा के विकास पर निर्भर करता है। प्राकृतिक रूप से अपनी जीवन रक्षा के प्रयास में प्रथमतः हिंसा का ही प्रयोग शुरू होता है। इस प्रयास में जीवन निर्वाह हेतु पदार्थों की प्राप्ति भी सम्मिलित हो जाती है।

क्या आज आप लोगों को भी अपने व्यापार—व्यवसाय के निमित्त से ऐसा अनुभव नहीं होता कि कई स्थानों पर आप हिंसा के आचरण से बच नहीं पाते हैं ? कई बार तो लाभ या अन्य प्रयोजन से जान बूझ कर भी हिंसा का ऐसा आचरण कर लिया जाता है, जो शायद एक श्रावक के लिये करणीय न हो। इस प्रकार सांसारिकता में रची—पची आत्माएं अपने स्वार्थों के वशीभूत होकर हिंसा की ओर शीघ्र आकर्षित हो जाती है।

यही कारण है कि हिंसा के बल को देखते हुए उसका विलोम शब्द 'अहिंसा' बना, जिस से हिंसा का निषेध पक्ष प्रमुख दिखाई दे। संक्षेप में विचार करें कि हिंसा क्या होती है ? "प्रमत्तयोगात् प्राण व्यतिरोपणं हिंसा"— यह हिंसा की व्याख्या है। प्रमत्त योग से प्राणों को नष्ट करने का नाम हिंसा है। प्राण दस प्रकार के कहे गये हैं—ये आप सभी जानते होंगे—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, मन, वचन, काया, आयु एवं श्वासोश्वास बल प्राण। प्रत्येक जीव को जितनी इन्द्रियां प्राप्त होती हैं, उनका बल उसका प्राण होता है और इसी प्रकार मन, वचन व काया का बल तथा आयु व श्वासोश्वास का बल। इन सभी प्रकार के बलों अथवा किसी एक बल के हनन की जो चेष्टा की जाती है, हिंसापूर्ण चेष्टा होती है। किसी को मृत्यु के मुख में पहुंचा देना स्थूल हिंसा है, वहां सूक्ष्म हिंसा का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। किसी की एक

विधि-मूलक पक्ष का विशेष महत्त्व

अहिंसा शब्द से हिंसा के निषेध का बोध प्रत्यक्षतः होता है किन्तु जरा सी गइराई से सोचें तो यह सत्य स्पष्ट हो जाता है कि जहां निषेध पक्ष है, वहां विधि पक्ष होता ही है। यों कहें कि निषेध पक्ष में ही विधि पक्ष ध्वनित हो जाता है। जब आप कहें कि किसी के भी प्राणों का हनन न किया जाय तो क्या इसी वाक्य से यह ध्वनित नहीं हो जाता है कि सबके प्राणों की रक्षा की जाय ? एक बात न करने का जहां विधान किया जाता है तो वहां स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कथित दूसरी बात का पालन किया जाय। हां कभी कभी गहराई से विचार नहीं किया जाय और हिंसा के निषेध पक्ष तक ही रुक कर कोई कहने लगे कि दया और रक्षा में पाप है, तब यह प्रतीत होता है कि अहिंसा का विधि मूलक पक्ष भी स्पष्टता से समझाया जाना चाहिये।

किसी को दुःख न दें—यह एक बात होती है किन्तु इसी बात का विस्तार जब तक इस विचार तक नहीं होता है कि दूसरों को सुख पहुंचे—ऐसे उपाय भी करो, तब तक हकीकत में वह बात पूरी नहीं होती है। अहिंसा को पूर्ण स्वरूप प्रदान करना है तो उसके दोनों पक्षों का पर्याप्त ज्ञान तथा समन्वित आचरण होना चाहिये। किसी को दुःख न दें—यह कर्त्तव्य है किन्तु किसी का दुःख देख कर हृदय द्रवित हो जाय और उसके दुःख को दूर करने के लिये अर्थात् उसे सुख पहुंचाने के लिये प्रयास किया जाय वह करुणा, रक्षा, मैत्री, बंधुता प्रेम आदि सभी अहिंसा के विधि मूलक पक्ष के अंग हैं। किसी के आचरण में जब ये उत्कृष्ट भाव समा जाते हैं तभी उसका जीवन स्व एवं पर हित को एक तुला पर रखने के आदर्श को सम्प्राप्त कर सकता है। उस का अन्तःकरण तब करुणा से ओतप्रोत हो जाता है।

तीर्थंकर देवों के जीवन का आपने अध्ययन किया होगा। उनके अन्तःकरण में अनन्त करुणा का वास होता है और उसी करुणा से विगलित होकर वे संसार के समस्त प्राणियों के कल्याण हेतु अपनी उपदेश धारा को प्रवाहित करते हैं। उसी उपदेश धारा का यत्किंचित् परिचय हम आप लोगों को देते और कहते हैं कि इसके मार्ग—दर्शन में यदि अपने जीवन को मोड़ लो तो जन—जन का कल्याण भी दूर नहीं रहेगा। अहिंसा के सिद्धांत की ऐसी सूक्ष्मता तीर्थंकर देवों की उपदेश धारा में ही मिलती है।

अहिंसा का विस्तार व्यक्ति से विश्व तक

ऐसा अनुपम अहिंसा का सिद्धांत यदि व्यक्ति—व्यक्ति अपने जीवन में

अपना लें तथा उसका सम्पूर्ण विश्व तक विस्तार कर दें तो क्या सुख का आह्लाद सब ओर निखर नहीं जायगा ?

यह सभी जानते हैं कि आज हिंसा के घात–प्रतिघातों से सारा संसार आतंकित है, त्रस्त है। न तो व्यक्ति और न ही राष्ट्र आश्वस्त हैं कि उन पर किसी भी पल कोई संकट घिर नहीं आयगा। कौन किस पर कब सकारण या अकारण आक्रमण करके उसके प्राणों का हनन कर देगा—इसकी किसी व्यक्ति को कोई गारंटी नहीं है। पंजाब का घटना चक्र तो आप नित प्रति पढ़ते ही होंगे कि वहां मारे जाने वाले अधिकांश नागरिक एकदम निर्दोष होते हैं। सामान्य रूप से सभी देशों और सभी क्षेत्रों में हिंसा का इतना विस्तार हो रहा है कि लोगों का जीना दूभर होता जा रहा है। राजनेताओं की सत्ता लिप्सा भी ऐसी जटिल बन रही है कि राष्ट्रों के बीच में भी परस्पर सद्भाव कम और आतंककारी भय अधिक फैला हुआ है। इन परिस्थितियों में अहिंसा का विस्तार किस रूप में अनिवार्य है—यह कोई भी अहिंसा प्रेमी भली भांति विचार कर सकता है।

हिंसा से त्रस्त विश्व को अहिंसा का महत्त्व समझाना कठिन है तो एक प्रकार से आसान भी है। घटाटोप अंधकार में प्रकाश की एक क्षीण रेखा भी प्रकाश के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर सकती है। यदि गहरी निष्ठा और आन्तरिक लगन के साथ अहिंसा के विस्तार का बीड़ा उठाया जाय तो कोई कारण नहीं कि उसके लिये आकर्षण और सहयोग का संगठन न बनाया जा सके। महात्मा गांधी ने इसी युग में भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त करने में अहिंसा का प्रयोग किया था और उसका सुपरिणाम सबके सामने था। भारत के सांस्कृतिक वातावरण में अहिंसा का ही प्रभाव सर्वोपरि है कि आवश्यकता से हिंसक होते रहने पर भी भारतवासी बात तो अहिंसा की ही करते हैं। इस दृष्टि से ऐसा संगठित प्रयास सफल हो सकता है कि फिर इसी देश की धरती से अहिंसा का दिव्य सन्देश उठे और सारे संसार में गूंज उठे।

मैत्री, बन्धुता, सर्वभूत प्रेम

हैं तथा उनका व्यक्ति के जीवन से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व की शान्ति के हित में कितनी श्रेष्ठता से प्रयोग किया जा सकता है।

सार रूप में जानना चाहें तो अहिंसा का विधि अर्थ है मैत्री, बन्धुता और सर्वभूत प्रेम। मैत्री किसके साथ ? क्षमापना का सन्देश आप जानते हैं न ? 'मित्ती मे सव्व भूएसु, वैरं मज्झं न केणई'। यह प्राणी मैत्री का आदर्श रूप है– "समस्त भूत जीवों के साथ मेरी मैत्री है और किसी के साथ मेरा वैर नहीं है।" इतने ऊंचे सिद्धांत को मानने वालों का अपना जीवन कैसा होना चाहिये– इसकी प्रतीति आप अवश्य लेते रहते होंगे। जहां विश्व मैत्री का आदर्श है वहां छोटे मोटे झगड़ों में शायद आप नहीं उलझते होंगे और वैर–विरोध के अवसर नहीं आते होंगे। खैर यह आपके लिये अपनी ही आत्मालोचना का विषय है।

बन्धुता और प्रेम का आदर्श भी उसी प्रकार सर्वोच्च है जिसका सम्बन्ध संसार के समस्त प्राणियों से जुड़ा हुआ होना चाहिये। अहिंसा के ऐसे आदर्शों का जब प्रचार किया जायगा तो क्यों नहीं अहिंसा के प्रति आकर्षण साधन बन सकेगा ? इसके लिये निष्ठावान लोगों को आगे आना चाहिये। व्यक्ति जब अहिंसा के इस विधि अर्थ को अपने जीवन में अपनाता है तो उसका सुप्रभाव परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के वातावरण पर अवश्य पड़ेगा। अहिंसामय परिवर्तन की एक लहर चल पड़ेगी और यह निश्चित मानिये कि ऐसी लहर के विस्तार से ही विश्व को शान्ति की अनुभूति हो सकेगी।

अहिंसा का व्यवहार

आज जीवन में अहिंसा के व्यवहार पर अधिक बल दिया जाना चाहिये। आचरण में जहां जहां हिंसा का असर दिखाई देता हो, उस असर को मिटाने के लिये अहिंसा के व्यवहार को प्रभावशाली बनाया जाय। अधिकांश व्यक्ति सीधे तौर पर हिंसा से जुड़े हुए नहीं होते हैं फिर भी उनके कई ऐसे कार्य हो सकते हैं जिनसे व्यक्त या अव्यक्त रूप से हिंसा पैदा होती या बढ़ती हो। अतः उन कार्यों के प्रति सावधानी दिलाई जाय ताकि जीवन का समग्र आचरण अहिंसा की शीतलता से आप्लावित हो सके।

इस दृष्टि से यहां कुछ उपाय सुझाये जा रहे हैं जिन्हें अपनाया जाना चाहिये –

(1) सप्त कुव्यसनों का त्याग करके आचरण में अहिंसा का समावेश किया जाना चाहिये, क्योंकि इन कुव्यसनों के सेवन से हिंसा का फैलाव होता है तथा पापपूर्ण प्रवृत्तियां जटिल बनती है।

(2) परिवार और समाज के संचालन में ऐसे सहयोग के लिये सदा तत्पर रहना चाहिये जिससे व्यवसाय व्यापार सम्बन्धी प्रत्यक्ष हिंसा तथा पारस्परिक एकता सम्बन्धी भाव हिंसा कम हो और सहकार की वृत्ति सशक्त बने।

(3) राष्ट्रीय एकता के प्रति समर्पित रहना चाहिये तथा विघटनकारी व उग्रवादी हिंसक प्रवृत्तियो से दूर रहते हुए पारस्परिक संगठन एव प्रेम भाव को विकसित करने में सहायक बनना चाहिये।

(4) देश–विदेशो मे शाकाहार को प्रोत्साहित करने के प्रयत्न किये जाने चाहिये और मांसाहारियों को समझाया जाना चाहिये कि हिंसा करके भी उन्हे वे तत्त्व नहीं मिलेंगे जो पोषक तत्त्व शाकाहार से प्राप्त होते हैं।

(5) नई पीढ़ी के अहिंसक निर्माण के उद्देश्य से बालक–बालिकाओ में नैतिक एवं आध्यात्मिक सुसंस्कारो का बीजारोपण किया जाना चाहिए तथा उनकी वैसी ही शिक्षा दीक्षा का प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

(6) आत्म समानता एव आत्म स्वाधीनता की प्रेरणाओं का प्रसार किया जाना चाहिये ताकि उसके आधार पर अहिंसा के विधि पक्ष का अधिकाधिक विस्तार हो।

(7) इस जीवन व्यवहार की अपनी अन्तःप्रेरणा की ज्योति निरन्तर जलती रहे—अपने निज के आचरण के आदर्श से तो अपनी कर्मठता की शिक्षा से भी। अपनी नित प्रति की दिनचर्या से अहिंसा की ही झलक मिले—इसका भी पूरा ध्यान रखा जाय, जैसे रात्रि भोजन न करें, उत्तेजक भोजन न लें आदि।

कष्ट पहुंचाने की कुचेष्टा करे, बल्कि यह कहें कि सबका मन यह होगा कि हमें हमारे सुख की परवाह नहीं, हम दूसरों को अधिक से अधिक सुख पहुचावें तथा उसके लिये अपना जितना भी त्याग करना पड़े, वह सहर्ष करें। इस प्रकार अहिंसा का पूर्ण पालन श्रेष्ठ ज्ञान और स्वस्थ आचरण पर आधारित रहता है।

अहिंसा सिद्धान्त की इसी सक्षमता ने उसे परम धर्म का पद दिया है – 'अहिंसा परमोधर्मः।' वस्तुतः अहिंसा एक सिद्धान्त ही नहीं, एक सम्पूर्ण जीवन दर्शन है–जीने की पूर्ण कला और शैली है। ऐसी अहिंसा के सर्वत्र विस्तार के पुनीत कार्य में उन लोगों को आगे आना ही चाहिये जो अहिंसा को परम धर्म मानते रहे हैं।

★

सौंदर्य प्रसाधन त्याग

卐 बाहरी चमक दमक को सुन्दर रूप मत समझो, जिस रूप को देखकर पाप कांपता है और धर्म प्रसन्न होता है वही सच्चा सुरूप है, सौंदर्य है।

卐 असली सौंदर्य आत्मा की वस्तु है, आत्मिक सौंदर्य की सुनहरी किरणें जो बाहर प्रस्फुटित होती हैं उन्हीं से शरीर की सुन्दरता बढ़ती है।

卐 देखिये आप जिन सौंदर्य प्रसाधनों को काम में ले रहे हैं उनके बनाने में कितने करुण जीवों की आहें भरी हैं। दुःख दर्द से रोते–बिलखते प्राणों की भीख मांगते प्राणियों के लहू से, चमड़ी से, हड्डियों से, बालों से बनी चीजें कैसी पाप कालिमा को बढ़ाती हैं, याद रखिए, किसी न किसी जन्म में आपका ही लहू निकाला जावेगा, चमड़ी उधेड़ी जावेगी, बाल नोचे जायेंगे, हड्डियां पीसी जावेंगी। क्षणिक रौनक का हिसाब देते समय हाय–हाय करना पड़ेगा। इसलिए अभी से सावधान हो जावें, इन चीजों का प्रयोग न करें।

होता है। सबसे बढ़कर मनुष्य की मोह मूर्छा अपने शरीर के प्रति होती है और अधिकतर वह इतनी घनी हो जाती है कि मनुष्य अपने शरीर को ही सब कुछ समझ लेता है। इस मोह में वह अपने आत्म स्वरूप को भी विसार देता है। यह मोह तब कठोर बंधन बन जाता है। इन बंधनों को सर्वथा नष्ट किये बिना आत्मा का मोक्ष सम्भव नहीं होता है।

सौन्दर्य और स्वरूप की लालसा

जब मनुष्य का अपने शरीर के प्रति अतिशय मोह होता है तब उसका सारा चिन्तन शरीर के सम्बन्ध में ही चलता है कि उसका शरीर सुन्दर और रूपवान दिखाई देता है या नहीं; अथवा वे क्या प्रयोग हो सकते हैं जिन्हें काम में लेकर वह अपने शरीर की सुन्दरता या सुदर्शनीयता को बढ़ा ले। ऐसे विचारों के साथ वह भांति–भांति के उपाय सोचता है। भांति–भांति के प्रसाधनों की खोज करता है तथा भांति–भांति के पदार्थो का प्रयोग करके अपने शरीर की सुन्दरता को बढ़ा–चढ़ा कर दिखाने की चेष्टा करता है।

कई नवयुवक भी यहां बैठे हुए हैं वे अपने मन के विचारों को टटोलें। शायद उन्हें यह विशेष रूप से प्रतीत होगा कि वे अपने शरीर की शोभा को बढ़ाने के लिये क्या क्या करते हैं। कई दर्पण के सामने बड़ी देर तक निहारते रहते होंगे और सोचते रहते होंगे कि उनके चेहरे और शरीर की दिखावट किस प्रकार अधिक से अधिक आकर्षक बने। आत्म स्वरूप का इतना एकाग्र चिन्तन मुश्किल से ही चलता होगा, जितना ये लोग एक लगन से शरीर के सुरूप पर सोचते रहते होंगे। इस सोच विचार में ये लोग शायद बड़े गहरे भी उतरेंगे होंगे कि चेहरे की चमड़ी के एक–एक सल और एक–एक रोम की हालत को परखें और उसे सुरूपवान बनाने के बारे में उपायों का निर्धारण करें। आंखों की भौंहें कैसी है ? कहीं उनके बाल बेतरतीब से बिखरे हुए तो नहीं है ? यह ललाट पर कैसी खरौंच है– गालों पर मुहांसे क्यों झलक रहे हैं–और चेहरे का रंग मन्दा मन्दा सा क्यों है ? इस प्रकार बड़ी बारीकी से इस शरीर की देखभाल होती हैं और उन कमियों को हर प्रकार के प्रयोगों से दूर करने की भरसक कोशिशें की जाती हैं जिससे उनके शरीर का सौन्दर्य और सुरूप चमकने लगे।

यह वृत्ति क्या है ? यह मोहावेश है, जो शरीर के सौन्दर्य और सुरूप की लालसा को निरन्तर भड़काता रहता है। यह उत्तेजना कभी–कभी इतनी हास्यास्पद स्थिति तक पहुंच जाती है, जब यह देखा जाता है कि एक काला

कुरूप युवक भी भांति भांति के प्रसाधनों के प्रयोग में इतना डूब जाता है जैसे वह अपने आपको गौर वर्ण का बना कर ही दम लेगा।

सौन्दर्य और सुरूप के आकर्षण को, यह बात नहीं है कि आप लोग नहीं जानते हैं। यह बाहर का सौन्दर्य और बाहर का सुरूप ही आंखों के सामने पहले आता है और इसे हर कोई मुग्ध भाव से देखता है। देखने वालों में जो विचारवान होते हैं, वे शारीरिक सौन्दर्य के सन्दर्भ में गहरे उतर कर भीतर के सौन्दर्य को निरखने–परखने लगते हैं और आन्तरिकता के सुरूप में डूबने लगते हैं, किन्तु जिनकी विचार शैली छिछली होती है, वे शरीर के रूप में ही आसक्त होने लगते हैं। आसक्ति की ऐसी तीव्र लालसा उनके जीवन में किन–किन भीषण विकारों को फैलाकर क्या–क्या दुर्दशा नहीं कर डालती है–ऐसे उदाहरण भी आपके अनुभव में अवश्य आते होंगे।

आकर्षण का वेग–शरीर के प्रति

दार्शनिकों और विचारकों ने शरीर को धर्म साधना का माध्यम बताया है– शरीरं हि खलु धर्मसाधनम्। शरीर से धर्म की साधना करें– यही इसका वास्तविक एवं आध्यात्मिक उद्देश्य है।

वास्तव में शरीर के प्रति आकर्षण का वेग तभी तीव्र बनता है कि जब शरीर को मात्र साधन मानकर चला जाता है। काम–वासनाओं के प्रबल अंधड़ में ही इस शरीर का, यों कहें कि दुरुपयोग होता है और वैसी मूर्छावस्था में ही मात्र शरीर की सुन्दरता में मनुष्य का ध्यान उलझ जाता है और स्वस्थ चेतना के अभाव में बुरी तरह से उलझा हुआ रहता है।

सौन्दर्य और सुरूप की वास्तविकता

भारतीय संस्कृति में जीवन के चार लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। सांसारिकता की दृष्टि से अर्थ और काम भी लक्ष्य कहे गये हैं क्योंकि संसार के संचालन से अर्थ (धन) का भी उपयोग है तो काम (मिथुन) का भी उपयोग है। किन्तु संस्कारित जीवन धनियों ने इन दोनों के पहिले धर्म को रखा है। अर्थ धर्म से उपार्जित किया जाय और धर्म से ही उसका उपभोग हो। इसी प्रकार काम का उद्देश्य वंश या संसार को चलाना मात्र हो, वह भोगों की आसक्ति में न बदल जाय। काम भी धर्म की छाया में चले। इसी के अनुरूप मोक्ष के लक्ष्य की पूर्ति सहज मानी गई है।

यहां प्रासंगिक यह है कि कामचरण को वीभत्स रूप लेने से बचाना चाहिये। आज ऐसा अवांछनीय वीभत्स रूप ही चारों ओर फलता–फूलता और फैलता हुआ दिखाई दे रहा है। फैशन के नाम पर कामोत्तेजक वस्त्र परिधान या कि श्रृंगार प्रसाधन काम में लाये जाते हैं तो लोगों की आसक्ति कामोत्तेजक भोजन और साहित्य में भी बढ़ती जा रही है। कामेच्छाओं का दौरदौरा ही जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को घेरने लगा है और सेक्स का पागलपन हद से बाहर जा रहा है। ऐसे अपराधों की संख्या भी बेशुमार हो रही है तो दुराचार के वशीभूत होकर निर्मम हत्याएं भी बेधड़क की जाती हैं। आज के कामुक वातावरण को देखते हुए कहा जा सकता है कि शिष्टाचार और मर्यादाओं की सारी सीमाएं टूटती हुई चली जा रही है। भयावह परिस्थितियां जन्म ले रही हैं जिनके संदर्भ में यह भय पैदा होने लगा है कि क्या आदमी भूखे भेड़ियों की तरह कामाचरण करना तो प्रारम्भ नहीं कर देगा ? क्या सैकड़ों वर्षों के सत्प्रयास से ढली हुई हमारी संस्कृति और सभ्यता आज के कामाचार एवं दुराचार के अंधड़ में लुप्त तो नहीं हो जायगी ? क्या धर्म और संयम से सहेजा हुआ जीवन का सार तत्त्व भ्रष्ट तो नहीं हो जायगा ?

इसलिये समय आ गया है जब सौन्दर्य एवं सुरूप की वास्तविकता की समझ ली जाय, शरीर के सदुपयोग का ज्ञान करें और इस तरह काम पर कड़ा अनुशासन कायम किया जाय।

कहां कुरूपता, कहां सुरूपता

यदि सामान्य रूप से भी कोई किसी की आन्तरिकता में प्रवेश करे और उसके व्यवहार का अनुभव करे तो समझ में आ जाता है कि कहां कुरूपता है और कहां सुरूपता है ? किसी अनजाने व्यक्ति से आप मिलते हैं तो सबसे पहले उसका चेहरा मोहरा ही नजर में आता है लेकिन ज्यों–ज्यों आप उससे बातें करते चले जाते हैं और उसके हृदय की झलक मिलती जाती है त्यों–त्यों आप की दृष्टि बाहर से हटकर भीतर में केन्द्रित होती चली जाती है। तब ऐसे अवसर भी आते हैं जब बाहर से कुरूप दिखाई देने वाला व्यक्ति भीतर की सुन्दरता के कारण प्रिय और सुहावना लगने लगता है। दूसरी ओर जो अपनी शारीरिक सुन्दरता के कारण पहली नजर में बड़ा आकर्षक लगा था, वही अपने अन्तर्हृदय की दुर्भावनाओं के कारण ऐसा बुरा लगने लगता है कि फिर उसकी तरफ देखने तक की इच्छा नहीं रहती। ऐसे अनुभवों के बाद ही स्पष्ट होता है कि वास्तव में कुरूपता और सुरूपता का स्थायी असर कहां से होता है ? मन की यानी कि आत्मा की सुन्दरता के सामने शरीर की सुन्दरता तुच्छ और नगण्य हो उठती है किन्तु इस तुच्छता का भान उसे ही हो पाता है जो आन्तरिक सुन्दरता में रस लेने का यत्न करे।

सामान्य बुद्धि से भी कसौटी की जा सके कि वास्तव में कुरूपता क्या है और सुरूपता क्या है—इसके लिये इस उक्ति को समझ लीजिये—

(1) जिस रूप को देखकर धर्म सोता है और पाप अनुप्राणित रहता है—वह कुरूपता है, चाहे शरीर की हो या आत्मा की।

(2) इसी प्रकार जिस रूप को देखकर पाप सोता है और धर्म प्रसन्न होता है, वही सच्ची सुरूपता है—सच्चा सौन्दर्य है।

बाहरी चमक-दमक से सौन्दर्य का भ्रम

कितना भी सम्हालो, फिर भी मनुष्य का मन बड़ा चंचल होता है। किधर न किधर फिसल ही जाता है और बाहरी चमक–दमक देखकर सौन्दर्य के भ्रम में फंस जाता है। शरीर की बाहरी सुन्दरता का मोहजाल भी बड़ा टेढ़ा होता है। आज भी आप देखते होंगे कि बाहरी सुन्दरता की ओर भी गहरा आकर्षण बन जाता है और कई बार वह आकर्षण तीक्ष्णता पकड़कर कुकृत्यों की दिशा में भी बह जाता है। बाहर की सुन्दरता के प्रति भी एक मर्यादापूर्ण आचरण हो, वहां तक तो सामाजिक दृष्टि उसे सहन कर ले, लेकिन मर्यादा भंग की दशा में वह असामाजिक आचरण हो जाता है। प्राचीनकाल के इतिहास में भी कई उदाहरण मिलेंगे जब राजाओं ने सुन्दर युवतियों के लिये युद्ध तक किये। और जब जब ऐसा कदाचार हुआ या होता है तब–तब निश्चित है कि समाज की व्यवस्था और शान्ति दोनों भंग होती हैं।

बाहरी चमक–दमक में सौन्दर्य का भ्रम तभी होता है जब मनुष्य की दृष्टि संकुचित होती है और वह अन्तःकरण के भीतर उतर कर वहां की अद्‌भुत सुन्दरता का रसपान करने में अक्षम रहती है। इसलिये बाहरी चमक–दमक को सौन्दर्य मत समझो और कसौटी पर चढ़ाकर ही सौन्दर्य को खरा मानो कि जिस रूप को देखकर पाप कांपे–रोये और धर्म हंसे–हरसे, वही रूप सच्चे सौन्दर्य का मूल होता है।

सौन्दर्य नाशवान नहीं, शाश्वत

सौन्दर्य और सुरूप किसे कहें–इस प्रश्न का उत्तर इस सत्य में खोजें कि सौन्दर्य नाशवान नहीं, शाश्वत होता है। जो नष्ट हो जाय, वह भला सौन्दर्य ही क्या ? और यह आप भली भांति जानते हैं कि शरीर की सुन्दरता एक न एक दिन बिगड़ती है और नष्ट हो जाती है, फिर मात्र शरीर की सुन्दरता को 'सौन्दर्य' के नाम से अलंकृत ही कैसे करें ?

वही सौन्दर्य शाश्वत होता है जो आत्मा का होता है–आत्मा के उत्कृष्ट भावों का होता है। वैसा सौन्दर्य तो क्या, वैसे सौन्दर्य का प्रभाव भी अमिट होता है। आपके जीवन में ऐसी एकाध घटना अवश्य घटी होगी जिसमें आपका ऐसे किसी विशाल हृदय पुरुष से मधुर सम्पर्क हुआ हो और उसके आत्मिक सौन्दर्य की याद से आज भी आपका हृदय अभिभूत हो जाता है।

आत्मिक सौन्दर्य सच्चा सौन्दर्य

जो सुन्दरता शाश्वत होती है–अनश्वर होती है, वही आत्मा की, अन्तःकरण की या स्वभाव की सुन्दरता होती है। और यही असली सुन्दरता है। यह असली सुन्दरता सबको सुलभ है, बतर्शे कि कोई असली सुन्दरता को समझे तथा उसे अपने भीतर से बाहर प्रकट करे।

इस प्रकार की यथार्थता के बावजूद जो शारीरिक सुन्दरता के पीछे ही मुग्ध बने घूमते हैं और अपने आपको भूले हुए रहते हैं, उन्हें उस हिरण की उपमा देने को मन करता है जो रेगिस्तान की तपती हुई रेत को सरोवर समझकर उसके लिये दौड़ता रहता है परन्तु पास जाने पर उसे पानी मिलता नहीं–वह भी तपती हुई रेत ही होती है और वह प्यासा का प्यासा ही रह जाता है। जो रेत को पानी समझ ले, उसकी बुद्धि पर तरस ही खाया जा सकता है। यह समझने पर कि रेत पानी नहीं बन सकती है और प्यास पानी से ही मिट सकेगी–यदि कोई स्थिति की वास्तविकता को समझ ले; तब तो फिर भी वह मार्ग पर आ जाय। किन्तु इसके बावजूद भी जो रेत के पीछे ही भागता रहे और पानी की कल्पना करता रहे तो उसका भला कोई नहीं कर सकता।

आप लोगों से यह प्रश्न पूछना चाहता हूं कि आप अपने को इन तीनों श्रेणियों में से किस श्रेणी का व्यक्ति मानते हैं–रेत को पानी नहीं मानने वाला, रेत को पानी मानकर दौड़ने वाला मगर समझाने के बाद स्थिति को जान लेने वाला अथवा स्थिति को बार–बार समझाने के बावजूद रेत को ही पानी समझ कर भागते रहने वाला ? क्या अपनी वास्तविक आलोचना करते हुए कोई सत्य से मुझे परिचित करायेगा ? अस्तु, न बतावें आप, किन्तु मेरा आग्रह है कि शारीरिक एवं आत्मिक सौन्दर्य के विषय में अपनी धारणाओं को स्पष्ट करें तथा यथार्थ वस्तुस्थिति का अनुसरण करें।

मुखमंडल के पीछे एक प्रकाश वृत्त दिखाया हुआ होता है। यह प्रकाश वृत्त अथवा प्रभामण्डल आत्मिक सौंदर्य का ही प्रतीक होता है। आधुनिक मानसिक ज्ञानवेत्ता इसे भा–मण्डल (ओरा) की संज्ञा देते हैं और कहते हैं कि अपनी अपनी मानसिक शक्ति के विकास के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति का अपना भा–मण्डल होता है जो क्षीण होने के कारण दिखाई नहीं देता।

कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मिक सौन्दर्य की आन्तरिक आभा से बाहर का शरीर भी सुन्दर बन जाता है। जब वस्तुस्थिति ऐसी है तो सभी लोग सौन्दर्य के मूल को क्यों नहीं पकड़ते हैं ? क्यों सौन्दर्य के नाम पर कंटीली झाड़ियों में उलझ जाते हैं और विशाल वृक्ष की उपेक्षा कर लेते हैं ? कई बार ऐसा उपयुक्त ज्ञान के अभाव में भी होता है, किन्तु आपको तो वीतरागवाणी को श्रवण करने का सौभाग्य मिला हुआ है, फिर आप के सभी प्रयास आत्मिक सौन्दर्य प्राप्ति हेतु सक्रिय क्यों नहीं हो जाते हैं ? शरीर के सौन्दर्य की दलितता भी आप देखते हैं और ध्यान दें तो आत्मिक सौन्दर्य के धनी भी आप के सम्पर्क में आते होंगे–फिर तो सही दिशा में आगे बढ़ने का जागरण अवश्यंभावी माना जाना चाहिए। अच्छे काम के लिये कभी देरी नहीं होती, अब भी आत्मिक सौन्दर्य को प्राप्त करने के पुरुषार्थ में अपने आपको लगा दीजिए।

रूप का गर्व और आत्म गौरव

आज दुनिया में देखा यह जाता है कि जिस को जरा सी शारीरिक सुन्दरता मिल गई हो, वह भी सत्रह नखरे करता हुआ फूला–फूला फिरता है, जैसे कि उसने कोई अनोखी उपलब्धि कर ली हो। लोगों को अपने रूप का एक ऐसा गर्व होता है जिसे हर कोई झेलना पसन्द नहीं करता। वह दूसरों से अपने को बहुत बड़ा मान बैठता है और अपने व्यवहार को भी उसी रूप में क्षुद्र बना लेता है। दूसरी ओर वह व्यक्ति, जिसने अपने आत्म–स्वरूप को पहिचाना हो और आन्तरिक आनन्द का रसास्वादन किया हो, अधिक विनम्र और अधिक सहृदय हो जाता है। यह उसके आत्म गौरव के उन्नत हो जाने का लक्षण होता है। कितना अन्तर होता है दोनों प्रकार की सुन्दरता के सद्भाव में ?

रूप के गर्व और आत्म गौरव के उद्भव की बड़ी ही मार्मिक कथा है चक्रवर्ती सनत्कुमार की। सनत्कुमार अपूर्व शारीरिक सौन्दर्य के धनी थे। वह सौन्दर्य हकीकत में अपूर्व था, जैसा पहले किसी ने देखा–सुना नहीं। उसकी प्रशंसा देवलोक तक पहुंची। एक देव ने सोचा कि जो शारीरिक सौन्दर्य देवलोक में भी मौजूद नहीं है वैसा सौन्दर्य सनत्कुमार को प्राप्त है तो उसके

विकृत हो चला है। चक्रवर्ती कांप उठे, गरज कर बोले–तुम्हें अपने कथन का प्रमाण देना होगा।

वृद्ध ने कहा– प्रमाण भी दूंगा राजन्। और एक पात्र में चक्रवर्ती को थूकने तथा उस थूक की वैद्यों द्वारा परीक्षा करने का वृद्ध ने आग्रह किया। वैसा ही किया गया वैद्यों ने बताया कि उस थूक में सभी मुख्य सोलह रोगों के कीटाणु मौजूद हैं। तत्काल चक्रवर्ती दीक्षित होकर आत्मिक सौन्दर्य की खोज में चल पड़े और उन्होंने उसकी प्राप्ति भी की। वह प्राप्ति उत्कृष्ट और अलौकिक थी। उसके प्रमाण का भी विवरण आता है कि सनत्कुमार के शरीर में कुष्ठ रोग आदि अनेक रोग फूट पड़े किन्तु उनके आत्मिक सौन्दर्य की शक्ति इतनी प्रभावी थी कि अपना ही थूक हाथ के एक भाग पर रगड़ कर उस भाग को कंचन की तरह दमकता हुआ उन्होंने बना दिया किन्तु यही अभिलाषा व्यक्त की कि जब वे आत्मिक सौंदर्य में विभोर हो रहे हैं तो शारीरिक सौंदर्य की दशा–दुर्दशा से उनका क्या सम्बन्ध ?

रूप के गर्व तथा आत्म गौरव के प्रभाव को चक्रवर्ती सनत्कुमार की मार्मिक कथा से अधिक परिभाषित करने की कहां आवश्यकता रह जाती है ?

कैसे मिले आत्म सौन्दर्य ?

आत्म विकास का मार्ग दर्शन भगवान् महावीर से बढ़कर किसने किया है ? आप उनकी पावन वाणी का श्रवण करते हैं और समुच्चय रूप से जानते हैं कि आत्मा की सुन्दरता कैसे प्राप्त की जा सकती है। फिर भी सार रूप में आचारांग सूत्र की इस गाथा पर चिन्तन मनन कीजिए–

जे ममाइयमइं जहाई, से जहाई ममाइयं।
से हु दिट्ठ पहे मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं।।

अर्थात् जो ममत्त्व बुद्धि का परित्याग करता है वही वस्तुतः ममत्त्व–परिग्रह का त्याग कर सकता है। वही मुनि वास्तव में मोक्ष पथ का दृष्टा है जो किसी भी प्रकार का ममत्त्व भाव नहीं रखता।

कोई साधक एक ही बात अपना ले कि ममत्त्व भाव को दूर करना है चाहे वह किसी के भी प्रति हो तो इस एक ही प्रयोग द्वारा कोई आत्मा मोक्ष प्राप्ति तक के अपने चरम लक्ष्य को भी प्राप्त कर सकती है। मन का यही ममत्त्व भाव जिसे मोह, तृष्णा, मूर्छा, आसक्ति, लालसा आदि किसी भी नाम से सम्बोधित कर लें– आत्मा को विकारों के गहरे कीचड़ में घसीटता है और उसके स्वरूप को कुटिल एवं कलुषित बनाता है।

इस ममत्व भाव का इतना ही दुष्परिणाम नहीं निकलता है बल्कि आत्म स्वरूप की कलुषितता से देह का रूप भी अपरूप बनता है तथा बाहर के अन्दर में पचासों तरह के विवाद और विग्रह पैदा होते हैं। आज के सन्त्रस्त आचरण का सबसे बड़ा कारण यह मोह भाव ही तो है। अधिकांश व्यक्ति धन व पद के मोह में अनीति के रास्ते पर चल रहे हैं तो शरीर मोह की कामुकता भी कम अनर्थों का कारण नहीं बन रही है। जड़ता के प्रति व्यामोह ही मनुष्य के लिए आज अभिशाप बना हुआ है।

आत्मा की सुन्दरता को पाने के लिये आगे बढ़ते हैं तो आपको ही आनन्द नहीं मिलता बल्कि आपके सम्पर्क में आने वाले सभी लोगों को आनन्द मिलता है तथा समूचे वातावरण में भी आनन्द का संचार हो जाता है। दूसरी ओर मात्र शरीर की सुन्दरता में जब कोई आसक्त बनता है तो वह स्वयं ही अनेक प्रकार के दुःखों से ग्रस्त नहीं हो जाता बल्कि जिसके प्रति आसक्ति होती है उसे भी दुःखों की आग में झोंक देता है। इतना ही नहीं अपने कदाचार के मैले के छींटों से वह सारे समाज के धरातल तथा वातावरण की शुद्धता को भी कलंकित कर देता है।

आत्मा और शरीर की सुन्दरता के इस तुलनात्मक विश्लेषण के बाद मैं भी समझता हूं कि आप अपने अन्तःकरण में जागृति लायेंगे और अलौकिक आत्मिक सौन्दर्य को प्राप्त करने के सत्प्रयास में प्राणपण से जुट सकेंगे।

दृष्टियों से श्रेष्ठ और अनुकरणीय सुन्दरता होती है जिसके सामने शरीर की अपूर्व सुन्दरता भी महत्त्वहीन और मूल्यहीन हो जाती है। सुन्दर सभी होना चाहते हैं किन्तु इस तरह सुन्दर बनें, तब है।

3

रक्त रंजित सौन्दर्य प्रसाधनों का उपयोग क्यों ?

तीर्थंकर देवों का संसार की आत्माओं पर अनंत उपकार है। उन्होंने आत्माओं के चरम कल्याण के लिए मोक्ष का मार्ग ही नहीं बताया, बल्कि सांसारिकता के वातावरण में भी पारस्परिक संरक्षण और सद्भाव की प्रबलता कैसे बनी रहे—उन मानवीय उपायों पर भी प्रकाश डाला। उनकी दृष्टि में मानवात्माओं के संरक्षण का ही नहीं अपितु समग्र आत्माओं के संरक्षण का करुणा भाव था जिसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवाणु भी सम्मिलित हैं।

यह आत्माओं की समानता का सिद्धान्त है। अपने मूल स्वरूप के दृष्टिकोण से संसार की सभी आत्माएं समान हैं। उनके वर्तमान स्वरूप अथवा विकास में जो अन्तर दिखाई देता है, वह उनके कर्म मैल और उन कर्मों को नष्ट करने की शक्ति लाभ की अपेक्षा से है। किन्तु संरक्षण एवं सद्भाव के प्रश्न पर इस अन्तर को देखने की आवश्यकता नहीं है। यह मानव का विशेष कर्तव्य है कि वह अपने साथियों का ही नहीं, छोटे बड़े सभी प्राणियों का संरक्षण करे तथा उनके प्रति सद्भाव रखे।

मनुष्य एक सामाजिक [illegible] इस प्रकार के संरक्षण एवं सद्भाव के लिये अपनी सभी प्रकार की शक्तियों का नियोजन करता है, [illegible]

आप देखते हैं कि हम साधु–साध्वी अपने मुख पर वस्त्रिका बांधते हैं। आप जानते हैं कि इसका एक उद्देश्य वायुकाय (हवा) के जीवों को संरक्षण देना भी है। कच्चा पानी काम में नहीं लेते, धोवन (निर्जीव जल) का उपयोग करते हैं। कच्ची वनस्पति का सेवन नहीं करते हैं क्योंकि हमारे महाव्रतों की भावना है कि वायुकाय, अपकाय, वनस्पतिकाय आदि अदृश्य जीवाणुओं का भी संरक्षण किया जाय। आप श्रावक श्राविकाओं के लिये भी अहिंसा का अणुव्रत है जिससे आपको स्थूल हिंसा का त्याग होता है।

अभिप्राय यह है कि अहिंसा के सिद्धांत में आस्था करने वालों का पहला कर्त्तव्य है जीव हत्या के कार्यों से दूर रहना तथा छोटे–बड़े सभी को अपनी ओर से संरक्षण प्रदान करना और यह कर्त्तव्य उनके आचरण में स्पष्टतः पूरी होता हुआ दिखाई देना भी चाहिये।

सहृदयता व संवेदना को समझें

आत्माओं की समानता के सिद्धांत को जो हृदयंगम कर लेते हैं, वे तो प्रत्येक प्राणी के प्रति सहृदय हो जाते हैं। वे प्रत्येक प्राणी में रही हुई आत्मा को अपनी ही आत्मा के समान समझते हैं तथा अपना वैसा ही आचरण एवं व्यवहार बनाते हैं जैसा कि उनकी आत्मा को प्रिय एवं सुखकारी महसूस होता है। जो व्यवहार उन्हें अप्रिय अथवा कष्टदायक लगता हो, वैसा व्यवहार वे कभी भी अन्य प्राणियों के साथ नहीं करते हैं। वे समझते हैं कि अपने शरीर पर चाकू का छोटा सा चीरा भी लग जाय तब कैसा दर्द महसूस होता है और इसी अनुभव के कारण वे किसी भी छोटे बड़े प्राणी की हत्या करने या हत्या से प्राप्त पदार्थ का उपयोग करने से तो दूर रहते ही हैं, किन्तु वे प्रयत्न यह करते हैं कि ऐसा कष्टदायक कार्य रोका जाना चाहिये तथा अज्ञान में पड़े लोगों को उनके अहिंसा सम्बन्धी कर्त्तव्यों का भान भी कराना चाहिये।

किन्तु अहिंसा के सिद्धांत में मान्यता रखते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से हिंसापूर्ण आचरण में लगे रहते हैं वे लोग जिनकी दृष्टि मात्र शरीर तक सीमित रह जाती है। वे न तो अपनी आत्मा की आवाज को सुनते या मानते हैं और न ही अन्य प्राणियों की आत्माओं के साथ अपनी आत्मा की समानता को महसूस करते हैं। इससे उनके आत्म विकास की जघन्य स्थिति का ही अनुमान होता है।

शरीर तक सीमित दृष्टि का ही आज यह दुष्परिणाम सामने है कि अनेक बहिनें और भाई अपनी सहृदयता एवं संवेदना खोकर अपने शरीर को

सुन्दर बनाने के अज्ञानपूर्ण प्रयत्न में ऐसे-ऐसे सौन्दर्य एवं श्रृंगार प्रसाधनों का उपयोग करते हैं जिनके निर्माण में अनेक अबोले प्राणियों की हिंसा की जाती है एवं उनका निर्दोष खून बहाया जाता है। यह दृष्टि संकोच अहिंसा के मार्ग पर कितना घातक सिद्ध होता है—इसका आकलन तभी किया जा सकता है, जब यह जानकारी ली जाय कि एक-एक सौन्दर्य प्रसाधन, जिनका कि उपयोग किया जा रहा है, कितनी क्रूर हिंसक प्रणाली से तैयार किया जाता है ? खरीदने वाले तो सुन्दर-सुन्दर पैकेटों में बन्द सौन्दर्य-प्रसाधन खरीद लाते हैं और बड़ी आसक्ति से आकर्षक दिखाई पड़ने के लिए उनका अपने शरीर पर उपयोग करते हैं। किन्तु अपने शरीर मोह की अंधता के कारण वे यह भूल जाते हैं कि ये सौन्दर्य प्रसाधन कितने असौन्दर्यपूर्ण कृत्यों के परिणाम हैं ? यह मानसिकता आज गंभीर रूप से विचारणीय है।

इस छिछली मानसिकता का निकृष्ट बिन्दु मैं आपको समझाना चाहता हूं।

आप भाई हों या बहिनें– आपसे एक सीधा सादा सवाल करूं कि आप अपने शरीर का श्रृंगार क्यों करना चाहते हैं ? श्रृंगार से शरीर का खून नहीं बढ़ता या कि उसे किसी तरह की पुष्टि नहीं मिलती। आपका शरीर सज्जा विहीन हो या साज सज्जा–युक्त इससे आपके सुख में कोई अन्तर नहीं आता। फिर सारी सज्जा सामग्री एवं कोशिशों पर अपार धन, समय एवं शक्ति का अपव्यय क्यों ? इतना ही नहीं, अनेक प्राणियों की घात का महापाप अपने सिर पर लेकर निकाचित कर्म बंध के साथ ऐसा आत्म–पतन क्यों ?

महापाप की गठरी बांधी जाती है महज एक उद्देश्यहीन प्रयोजन के लिये–जो इतना अप्राकृतिक है कि जिसे सुनें–समझें तो शर्म से ही माथा झुकेगा। वह प्रयोजन है सौन्दर्य–प्रसाधनों का उपयोग करने वालों के मन में कि वे सुन्दर दिखाई दें। स्वयं तो हैं जैसे हैं, मगर दूसरों को सुन्दर दिखाई दें। कोई सोचता है कि ये दूसरे कौन हैं ? पति पत्नि तो एक बार विवाह सूत्र में बंध गये सो बंधे हैं, उनके बीच में सच पूछें तो श्रृंगार का और कम से कम हिंसापूर्ण रक्त रंजित श्रृंगार का कोई महत्त्व नहीं होना चाहिये। फिर ऐसे महा पापपूर्ण श्रृंगार को देखने वाले कौन ? वे सभी दूसरे अनजाने और राह चलते जो हकीकत में दूसरे हैं। तब अपने मन में प्रश्न उठाइये कि ऐसे दूसरों के लिये ऐसा कामोत्तेजक श्रृंगार क्यों ?

सौन्दर्य-प्रसाधनों की निरर्थकता को समझिये

आप में से बहुत सारे ऐसी घटनाओं से परिचित होंगे कि अमुक स्थान पर बलात्कार या हत्याएं हुई या कि अमुक की कुंवारी लड़की, बल्कि बच्चों वाली महिला तक किसी दूसरे के साथ भाग गई। ऐसी घटनाओं से एक बार आप चौंकते भी होंगे किन्तु फिर बेभान हो जाते हैं और यह सोचने का कष्ट नहीं करते कि इस प्रकार की घटनाएं क्यों घटित होती हैं ? ये 'दूसरे' लोग जो ऐसी फैशनपरस्ती को देखते हैं तो अनायास ही आकर्षित हो जाते हैं। उस अवैध आकर्षण का ही किसी में प्रबल वेग चलता होगा कि वह ऐसी घटनाओं को घटित करने का दुस्साहस कर लेता होगा।

इन परिस्थितियों में सोचिये कि ऐसी भडकीली साज सज्जा और रक्तरंजित प्रसाधनों से सजकर क्या आप अपनी ही दुर्घटना का रास्ता साफ नहीं करते हैं ? ध्यान रखिये कि प्राणियों का रक्त बहाने से सजा जो आपका

शृंगार है, क्या उसका कुफल आपको नहीं भुगतना पड़ेगा ? कर्म फल और फल भोग का एक दृष्टांत है कि किसी ने खरबूजे का छिलका उतार कर उसे सटाक-सटाक कर खाया तो इसका फल भोग उसे अपने आगामी जन्म में अपने शरीर की चमड़ी छिलवा कर लेना पड़ा। फिर इतने प्राणियों की हत्या को अपने पल्ले बांध कर क्या आप इसके फल भोग से बच जायेंगे ?

अतः सोचिये और समझिये कि ये सारे सौन्दर्य प्रसाधन किसी भी दृष्टि से कितने निरर्थक हैं ? यही क्यों, यह भी समझिये कि ये अपनी आत्मा के लिए कितने घातक भी हैं ? देखिये, आप जिन सौन्दर्य प्रसाधनों को काम में ले रही हैं, उनके निर्माण में कितने संत्रस्त जीवों की दुःखद आहें नहीं जुड़ी हैं ? दुःख दर्द से रोते बिलखते प्राणों की भीख मांगते प्राणियों के लहू से, चमड़ी से, हड्डियों से, बालों आदि से बनी ये शृंगार की वस्तुएं कैसी पाप कालिमा को बढ़ाती हैं ? याद रखिये, हो सकता है कि किसी न किसी जन्म में आपका भी लहू निकाला जावे, आपकी भी चमड़ी उधेड़ी जाय, आपकी भी हड्डियां तोड़ी जाएं और आपके भी बाल नोंचे जावें। इस क्षणिक और निरर्थक शौक का हिसाब चुकाते समय हाय-हाय करना पड़ेगा। इसलिए अभी से सावधान हो जाइये और ऐसे रक्त रंजित सौन्दर्य प्रसाधनों का उपयोग एकदम बन्द कर दीजिये।

ब्रह्मचारी [illegible] जैन

आदि के भड़कीले परिधानों का उपयोग नहीं करेंगे। सोना, चांदी और रत्न षड्काय के कितने जीवों की घात के बाद प्राप्त होते हैं—यह आप जानें तथा यह भी समझें कि आप इस तरह ऐसी बेशकीमती चीजों का उपयोग करके मानवता विरुद्ध कार्य करते हैं तथा अपने जीवन को भी खतरे में डालते हैं।

(2) यह भी प्रतिज्ञा लें कि सौभाग्य सूचक चिन्हों को छोड़कर अन्य लिपस्टिक, स्नो, पाउडर, क्रीम आदि हजारों तरह के सौन्दर्य प्रसाधनों में से किसी का भी कभी प्रयोग नहीं करेंगे। हिंसक सौन्दर्य प्रसाधनों को तो कतई काम में न लें।

(3) इन प्रतिज्ञाओं के साथ यह संकल्प लें कि यथाशक्ति धन और समय बचाकर इस तरह के अभियानों में लगावें तथा स्वयं अपनी अपनी जगहों पर अभियान छेड़ें कि कीमती वस्त्राभूषणों तथा सौन्दर्य प्रसाधनों का उपयोग बन्द किया जाय। ये वस्तुतः शरीर मोह को घटाने तथा सादगी अपनाने के अभियान होंगे।

इस प्रकार के अन्य अनेक उपाय हो सकते हैं किन्तु मूल उद्देश्य यह है कि यह घातक फैशनपरस्ती खत्म की जाय तथा प्राणियों के खून से अपने मुंह रंगना बन्द हो। यदि वेशभूषा, रहन–सहन और व्यवहार में सादगी अपना ली जाय तो समूचा सामाजिक वातावरण ही बदल सकता है।